प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, २०५ चावड़ी बाजार, दिल्ली।
लेखक : प्रो० दशरथ राज।
मुद्रक : आगरा फाइन आर्ट प्रेस, राजामण्डी, आगरा।
संस्करण : प्रथम, नवम्बर १९६४।

मूल्य : पाँच रुपये।

दो शब्द

सूर की रचना का क्षेत्र भले ही परिमित हो, पर वह विस्तार में वास्तव में सागर के समान है, जिस रत्नाकर मे अनेक भावरूपी रत्न भरे पड़े हैं। जो रत्नों के इच्छुक होते हैं, उन्हे तरंगों से टकराने की आदत होती है, गहराई में डूबकर रत्न खोजने की। सूर के काव्य की उत्ताल भाव तरंगों से जो प्रेरणा प्राप्त करते हैं और जो उसके काव्य रत्नाकर में कूदने का साहस कर सकते हैं वे रत्नो की राशि बटोर लेते हैं।

सूरदास की तीन रचनाओं को हमने प्रामाणिक मानकर उनके भाव पक्ष, कला पक्ष एवं दार्शनिक विचारों पर विचार किया है। हमने यथाशक्ति उदाहरण सूर सागर से दिये है ताकि जो सूर सारावली एवं साहित्य लहरी को प्रामाणिक नही मानते, वे भी भाव पक्ष, कला पक्ष एवं दार्शनिक विचारों का वही रूप पा सकें जो प्रस्तुत किया गया है। सूर के दृष्टिकूट पदों का दो एक स्थलों पर परिचयात्मक संकेत भर किया गया है। वे अपने में व्यापक विषय हैं। यहाँ पर हमारा अभिप्राय सूर काव्य में सूर के विशिष्ट पक्षों को प्रस्तुत करने का रहा है जिनमें सूर विनय के पद, सूर के वात्सल्य रस के पद, सूर के भक्ति परक पद (सख्य भाव, कान्ता भाव एवं राधा भाव की भक्ति के पद), भ्रमर गीत, सूर के दार्शनिक विचार एवं सूर की भाषा-शैली एवं कला-पक्ष आ जाते हैं।

अन्त में हमने सूर की पदावली का भी समावेश कर लिया है जो सूर के बहुविधि पक्षों का प्रतिनिधित्व करने मे सहायक हो सकेगी।

त्रुटियाँ मनुष्य का दैनिक व्यवहार है। इस प्रयास में भी त्रुटियाँ रही होंगी, जिन्हे जानने एवं सुधारने की इच्छा से सुधी पाठकों के सुझाव की नित्य प्रतीक्षा रहेगी—'इसीलिए खडा रहा कि भूल तुम सुधार लो।'

भाई श्यामसुन्दरजी का अगर प्रेरणात्मक आग्रह न होता तो यह कार्य शायद और भी रुका रहता। उनके प्रति आभार प्रदर्शित कर मैं भविष्य मे प्रेरणा मे बाधा उपस्थित करना नही चाहूँगा। उन सब लेखकों के प्रति भी लेखक आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानता है, जिनकी रचनाओं से इस रचना को पूर्ण करने मे उसे सहायता मिली है।

विनीत,

कार्तिक पूर्णिमा, सम्वत् २०२१ — दशरथ राज

अनेक प्यारों सहित

सज्जू को

—दशरथ राज

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

सूरदास का युग और जीवन

प्रथम अध्याय

युग परिचय

साहित्य अपने युग का प्रतिविम्व होता है। साहित्य मे युग के प्रति कवि की भावनाओं की प्रतिक्रिया होती है और उसे समझने के लिए उस युग का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

सूरदास का जन्म काल सं० १५३५ माना गया है। वे १८ वर्ष की अवस्था मे गऊ घाट पर गये। वहाँ वे पद-रचना कर हरि का भजन करते थे। गऊ घाट पर जाने से पूर्व जव वे सीही से चार कोस दूर पीपल के वृक्ष के नीचे निवास करते थे, तव भी वे पद-रचना करते थे और उन्हे संगीत का भी ज्ञान था। अतः सूरदास के रचना काल का आरम्भ उनकी आयु का १५ वाँ वर्ष मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। सूरदास की मृत्यु लगभग सं० १६४० मे हुई। अत. हम सूरदास का काव्य काल (रचना काल) सं० १५५० से सं० १६४० मान सकते हैं। इस काल की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियो का अवलोकन सूरदास के अध्ययन के लिए अनिवार्य है।

राजनीतिक स्थिति—सन् १५२६ ई० (सं० १५८३) मे वावर ने इब्राहीम लोदी को परास्त किया और ४ वर्ष दिल्ली का शासन किया। उसके वाद हुमायूँ सन् १५३० ई० (सं० १५८७) से लेकर ईस्वी सन् १५५६ तक दिल्ली का शासक रहा (इस काल के बीच हुमायूँ ने शेरशाह से हार भी खायी थी और दिल्ली का शासन खो कर पुनः उसे प्राप्त भी किया था।) सन् १५५६ ई० (स० १६१३) में अकवर का शासन काल आरम्भ हुआ। अकवर ने काफी दिनो तक शासन किया। उसका शासन काल सन् १५५६ ई० से सन् १६०५ ई० (स० १६१३ से सं० १६६२) तक रहा है।

सूरदास के जीवन काल मे ही पठानो का शासन समाप्त हुआ और वावर ने भारत पर विजय पायी। इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि वावर ने अपनी आयु के ४ वर्ष भारत में लड़ते हुए गुजारे। हुमायूँ को भी

घरेलू झगडो और पठानो का सामना करना पडा और उसकी सम्पूर्ण आयु राज्य को सुव्यवस्थित करने के लिए लडाई-झगडो मे समाप्त हो गयी। अकवर भी अपने आरम्भिक दिनो मे अत्यन्त कट्टर सुन्नी मुसलमान था।[1]

अत· सूरदास के जीवन के अधिकाश काल मे देश की अवस्था अस्त-व्यस्त एव विक्षुब्ध थी। इन लडाई-झगडो के कारण सामाजिक एव सास्कृतिक उन्नति अवरुद्ध हो गयी थी। राज्य-लिप्सा के कारण आये दिन लडाइयाँ छिड रही थी और शासक वर्ग अशिक्षित, घमण्डी, विलासी और क्रूर था। शासक वर्ग अपने शस्त्र-बल पर अपने शासन को सुरक्षित रखने के लिए सचेत था, उसमे जन-कल्याण की भावना का नितान्त अभाव था। अकबर के मन मे भी धार्मिक भावना स० १६३१ (सन् १५७४ ई०) के वाद ही जगी और इस समय तक अकबर ने देश मे शान्ति स्थापित कर ली थी। स० १६३६ (सन् १५८२ ई०) मे उसने अपने नये धर्म दीनइलाही की स्थापना की।[2]

सूरदास के साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि सूरदास राजनीति के प्रति सर्वथा उदासीन थे। उनके सम्पूर्ण साहित्य मे इस उथल-पुथल का कही कोई उल्लेख नही है। इसका प्रधान कारण यह भी है कि सूरदास अपनी अल्पायु मे ही घर छोड सीही से चार कोस दूर पीपल के वृक्ष के नीचे जाकर वस गये थे और उन्होने वही शान्तिपूर्वक अपना जीवन १८ वर्ष की आयु तक व्यतीत किया। किन्तु वढ़ते हुए वैभव ने उनके मन मे एक वार फिर वैराग्य जगाया। वे वहाँ से निकलकर गऊ

---

१. "For many years he was zealous, tolerably orthodox Sunni Musalman willing to execute Shias and other heretics." (Akbar the Great Mogul by V. Smith, p. 348)

२ "Next he passed through a stage (1574-82 A. D) in which he may be described as a sceptical rationalizing Muslim and finally rejecting Islam, utterly he evolved an electric religion of his own with himself as its prophet (1582-1605 A. D)" (Akbar the Great Mogul by V. Smith, p 348.)

घाट पर जा वसे और आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आने से पूर्व (स० १५६७) वे वही भगवद् भजन मे अपना जीवन व्यतीत करते रहे। उसके बाद भी उनका जीवन भगवद्लीला-गान मे ही व्यतीत आ। वादशाह अकवर से भेट होने से वे असन्तुष्ट ही हुए। अकवर द्वारा अपनी प्रशंसा मे गीत गाने की वात कहने पर उन्होने स्पष्ट ही कह दिया—

नाहिन मन मे रह्यो ठौर।
नद नंदन अछत कैसे आनिये उर और ॥

और अकवर के प्रसन्न होकर उन्हें पुरस्कृत करने की भावना पर उन्होने यही माँग की कि फिर उन्हे ऐसा कष्ट न दिया जाय। अत. हम देखते है कि महात्मा सूरदास पर राजनीतिक वातावरण का कोई प्रभाव नही पडा था।

सामाजिक परिस्थिति—इस राजनीतिक परिस्थिति ने सामाजिक वातावरण को शिथिल वना दिया था। जन-साधारण का जीवन आशकाओ से भरा हुआ था। जीवन की क्षणभंगुरता खटकने लगी थी और इस क्षणिक जीवन का सुखोपभोग करने के हेतु लोगो मे विषय-वासनाओ के प्रति आकर्षण वढ़ा हुआ था। ऐन्द्रिय सुख की लालसा प्रवल हो उठी थी। लोग जान वचाने के लिए एव कठोर समय मे सरलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए वाह्य ढकोसलों का अवलम्व लेकर साधु-संन्यासियों या स्वामियो का रूप धारण कर, वेष वनाकर, तिलक-माला आदि धारण कर अपने जीवन-यापन का अनूठा साधन अपनाये नजर आते थे। लोगो मे स्वार्थपरता, प्रवंचना, पाखण्ड, दम्भ व अहंकार की भावनाएँ जोर पकडती जा रही थी। नैतिकता का मानदण्ड ही नष्ट हो गया था। इन सारी वातो का जीवित चित्र जहाँ सूरदास ने अपने विनय के पदों मे प्रस्तुत किया है वहाँ, सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र आँखों के सामने खडा हो जाता है। जीवन की कठोर से कठोर परिस्थितियो मे भी ग्रामीण जीवन को दूषित वातावरण से कुछ अशो मे मुक्त ही पाया जाता है। ग्रामीण जीवन की विशेपताएँ—सरलता, भावुकता, सवेदनशीलता ग्रामीण जीवन में फिर भी दिखाई देती रहती है। ग्रामीण जीवन मे वुद्धि एवं विवेक की अपेक्षा ऐन्द्रिक आकर्षण की भावना, सहज प्रवृत्ति के वशीभूत कार्य करने की भावना प्रधान होती है। इस भावना का सुन्दर परिचय सूरदास ने गोप-गोपिकाओं के चरित्र के द्वारा दिया है; विशेष रूप से भ्रमर गीत में,

जव उद्धव एवं गोपियो के विवाद के रूप मे वुद्धि एवं भाव पक्ष का सघर्ष दिखाया गया है। सूरदास ने यहाँ जीवन के सहज पक्ष की विजय दिखा कर ग्रामीण जीवन के प्रति अपने अनुराग का परिचय दिया है।

यह ग्रामीण ससर्ग का ही प्रभाव था कि महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे प्रकाण्ड पडित एव दार्शनिक के प्रभाव मे आकर भी सूर मे वौद्धिकता के स्थान पर भावुकता, तार्किकता के स्थान पर भाव-प्रवणता एव दर्शन के स्थान पर भक्ति की प्रधानता वनी रही और वे अष्टछाप के प्रमुख कवि तथा 'पुष्टि मारग के जहाज' होते हुए भी अपनी रचना मे मनोभावनाओ का स्वाभाविक एव सुन्दर चित्र अकित करने मे समर्थ हो सके है। उनकी रचना मे दार्शनिकता का वोझ कही भी खटकता नही।

धार्मिक परिस्थिति—सूरदास के समय एवं उससे कुछ पूर्व उत्तर भारत मे दार्शनिक सम्प्रदायो एव विभिन्न साधना पद्धतियो के साथ ही दक्षिण की भक्ति-भावना का भी अच्छा प्रभाव हो चला था। उस समय निम्न धार्मिक मत एव सम्प्रदाय उत्तर मे विद्यमान थे—(१) वौद्ध एव जैन धर्म की विभिन्न शाखाएँ तथा वुद्ध एव जैन धर्म का मिटता प्रभाव, (२) सिद्ध सम्प्रदाय, (३) नाथ सम्प्रदाय, (४) शैव मत, (५) शाक्त मत एवं तान्त्रिक साधना, (६) निर्गुण सम्प्रदाय की ज्ञानाश्रायी शाखा, (७) निर्गुण सम्प्रदाय की प्रेमाश्रयी शाखा व सूफी मत, तथा (८) रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्वार्काचार्य, माध्वाचार्य एव वल्लभाचार्य के द्वारा प्रचलित भिन्न भक्ति मार्ग।

वुद्ध एव जैन धर्म के कमजोर होते ही सिद्ध सम्प्रदाय एव नाथ सम्प्रदाय ने समाज मे विशेप महत्वपूर्ण स्थान वना लिया। नाथ पन्थ की योग साधना, हठयोग की भावधारा, निराकार व्रह्म को योग साधना द्वारा व कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा प्राप्त करने की भावना की प्रधानता का परिचय हमें निर्गुणोपासना पन्थ की दोनो शाखाओ—ज्ञानाश्रयी शाखा जिसके प्रवर्तक कवीर थे एवं सूफी साधना पद्धति अथवा प्रेमाश्रयी शाखा जिसके प्रवर्तक कुतवन, जायसी एवं मझन थे—की साधना पद्धति पर पड़े उनके प्रभाव से भी स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। प्रेमाश्रयी शाखा मे वहुधा समस्त प्रेमाख्यानो में साधक को योगी के रूप मे साधना-पथ पर अग्रसर कराया गया है, उससे तप एव संयम का अवलम्ब ग्रहण कराया गया है। कवीर एव अन्य सन्त कवियों की वाणी पर भी इस मत का विशेप प्रभाव

रहा है। नाथ सम्प्रदाय की साधना पद्धति, हठ योग एवं कुण्डलिनी साधना की जानकारी के अभाव में कवीर को समझना असम्भव है। इस कथन से भी इस वात का प्रमाण मिलता है कि नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव उस युग पर विशेष रूप से पडा।

वौद्ध सम्प्रदाय से प्रस्फुटित महायान, हीनयान, वज्रयान, सहजयान सम्प्रदायों एवं उनसे उसी भावधारा को नई दिशा में लेकर चलने वाले सिद्धों से जहाँ एक ओर नाथ सम्प्रदाय जैसा सम्पूर्ण युग को प्रभावित करने वाला धर्म-सम्प्रदाय फूटा, वहाँ दूसरी ओर शाक्त पन्थ एवं तान्त्रिक साधना करने वालों का दल भी फूट कर अलग सत्ता लेकर खड़ा हो गया।

शैव मत का भी भारत मे विशेष प्रभाव था और शैव तथा वैष्णवों का संघर्ष भी एक प्रधान धार्मिक संघर्ष का रूप धारण कर चुका था, जिसके अवशेष आज भी दक्षिण मे दिखाई देते हैं। इस संघर्ष को मिटाने के लिए महात्मा तुलसीदास ने भगवान राम को परम शैव एवं भगवान शिव को परम वैष्णव सिद्ध करके धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। सूरदास की गोपियाँ भी चीरहरण के समय शिवोपासना करती दिखाई देती हैं।

वौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से अद्वैतवाद का सिद्धान्त नि.सन्देह दार्शनिक भावभूमि मे अद्वितीय सिद्धान्त है, जिससे ज्ञान और बुद्धि का सन्तोष-लाभ होता है, किन्तु मनुष्य केवल बुद्धि-प्रधान प्राणी नही है, उसका वास्तविक रूप उसकी भाव प्रवणता के माध्यम से समझा जा सकता है। दैनिक जीवन में मानव की भावनाओ का स्थान उसके वौद्धिक चिन्तन से प्रधान है। वौद्धिक चिन्तन से दैनिक जीवन-यापन सम्भव नही। ज्ञानमार्ग एवं निर्गुण भावधारा इसी कारण सर्वसाधारण को प्रभावित नही कर सकी।

जन-साधारण के अनुरूप भक्ति मार्ग था जिसे रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी, माध्वाचार्य, निम्वार्काचार्य एव वल्लभाचार्य ने अपने जीवन दर्शन एवं लोक ज्ञान से जन-साधारण के लिए उपयोगी वनाकर प्रस्तुत किया। सामाजिक व्यवस्था एव व्यवहार का इसमे पूरा ध्यान रखा गया था।

सूरदास की गोपियो ने उद्धव को हराकर निर्गुणोपासना एवं ज्ञान मार्ग पर सगुणोपासना एव भक्ति को प्रतिष्ठापित करने का सफल प्रयत्न किया है। सूरदास भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे, फिर भी उनकी रचना मे

राम-जीवन सम्बन्धी पद आये है जो उस समय के रामानुजाचार्य एवं रामानन्द के रामभक्ति शाखा के प्रभाव को घोषित करते हैं। निम्बार्काचार्य की परम्परा मे विद्यापति का नाम उल्लेखनीय है और विद्यापति के भावजगत की कुछ छाप सूरदास पर भी दिखाई देती है। माध्वाचार्य की भक्ति परम्परा मे हितहरिवंश का नाम उल्लेखनीय है। इस तरह सूरदास के जीवन काल मे—काव्य काल मे उपर्युक्त धार्मिक भावधाराएँ समाज मे विद्यमान थीं।

द्वितीय अध्याय

सूरदास का जीवन वृत्त

जन्म-स्थान—सूरदास का जन्म सीही नामक ग्राम मे हुआ जो दिल्ली से चार कोस व्रज की ओर स्थित है।[1]

हरिरायजी के इसी कथन की पुष्टि उनके पूर्वज गोसाईं विट्ठलनाथजी एव गोकुलनाथजी के समकालीन प्राणनाथ कवि के निम्नलिखित कथन से भी होती है—

श्रीवल्लभ प्रभु लाडिले, सीही सर जल-जात।
सारसुती-द्विज तरु सफल, सूर भगत विख्यात॥[2]

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के सवत् १९९० के सस्करण मे पृष्ठ १५५ पर सूर का जन्म-स्थान रुनकता लिखा था। उन्होने अपने इतिहास के स० १९९७ के नये संस्करण मे सूरदास के जन्म-स्थान का कोई उल्लेख नही किया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हे भी सूर के रुनकता मे जन्म होने की बात मे सन्देह था। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी सूर का जन्म-स्थान रुनकता बताया है।[3]

---

१ "सो सूरदास जी दिल्ली पास चार कोस उरे मे सीही गाँम है, जहाँ राजा परीक्षत के बेटा जन्मेजय ने सर्प यज्ञ कियो है, सो ता गाँम मे एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रगटे।" (सूरदास की वार्ता : हरिरायकृत, पृष्ठ १-२।)

२. सूर निर्णय : प्रभुदयाल मीतल एव द्वारकादास पारिख, पृष्ठ ५० पर अष्ट सखामृत से उद्धृत।

३ हिन्दी भाषा और साहित्य : बाबू श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ ३२२।

राम-जीवन सम्बन्धी पद आये है जो उस समय के रामानुजाचार्य एवं रामानन्द के रामभक्ति शाखा के प्रभाव को घोषित करते हैं। निम्बार्काचार्य की परम्परा मे विद्यापति का नाम उल्लेखनीय है और विद्यापति के भावजगत की कुछ छाप सूरदास पर भी दिखाई देती है। माध्वाचार्य की भक्ति परम्परा मे हितहरिवंश का नाम उल्लेखनीय है। इस तरह सूरदास के जीवन काल मे—काव्य काल मे उपर्युक्त धार्मिक भावधाराएँ समाज मे विद्यमान थीं।

द्वितीय अध्याय

सूरदास का जीवन वृत्त

जन्म-स्थान—सूरदास का जन्म सीही नामक ग्राम मे हुआ जो दिल्ली से चार कोस व्रज की ओर स्थित है।[1]

हरिरायजी के इसी कथन की पुष्टि उनके पूर्वज गोसाईं विट्ठलनाथजी एवं गोकुलनाथजी के समकालीन प्राणनाथ कवि के निम्नलिखित कथन से भी होती है—

श्रीवल्लभ प्रभु लाडिले, सीही सर जल-जात।
सारसुती-दुज तरु सफल, सूर भगत विख्यात ॥[2]

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के सवत् १९९० के सस्करण मे पृष्ठ १५५ पर सूर का जन्म-स्थान रुनकता लिखा था। उन्होने अपने इतिहास के स० १९९७ के नये सस्करण मे सूरदास के जन्म-स्थान का कोई उल्लेख नही किया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हे भी सूर के रुनकता मे जन्म होने की वात में सन्देह था। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी सूर का जन्म-स्थान रुनकता वताया है।[3]

---

१ "सो सूरदास जी दिल्ली पास चार कोस उरे मे सीहीं गाँम है, जहाँ राजा परीक्षत के वेटा जन्मेजय ने सर्प यज्ञ कियो है, सो ता गाँम मे एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रगटे।" (सूरदास की वार्ता : हरिरायकृत, पृष्ठ १-२।)

२. सूर निर्णय प्रभुदयाल मीतल एव द्वारकादास पारिख, पृष्ठ ५० पर अष्ट सखामृत से उद्धृत।

३. हिन्दी भाषा और साहित्य : वावू श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ ३२२।

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने भी सूर का जन्म-स्थान सीही माना है।[1]

जन्म-तिथि—गोसाईं गोकुलनाथ (जन्म स० १६०८) की रचना 'निज वार्ता' में सूरदास जी के जन्म के बारे मे लिखा है—

"सो सूरदासजी जब श्री. आचार्यजी महाप्रभु कौ प्रागट्य भयौ है, तब इनको जन्म भयौ है। सो श्री आचार्य जी सो ये दिन दस छोटे हते।"[2]

आचार्य जी का जन्म दिवस सं० १५३५ की वैशाख कृ० १० उप-रान्त ११ रविवार निश्चित है, अतः सूरदास की जन्म तिथि स० १५३५ की वैशाख शु० ५ मगलवार हुई।[3]

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है—"श्री नाथद्वारे मे सूरदासजी का जन्मोत्सव श्री वल्लभाचार्यजी के जन्म दिन वैशाख सुदी ५ को मनाया जाता है। सूर के इस जन्म-दिवस का मनाने का उत्सव सम्प्रदाय में नया नही है; यह परम्परा बहुत प्राचीन है। इस प्रकार हम सूरदास का जन्म सं० १५३५ वैशाख सुदी पचमी निर्धारित करते है।"[4]

सूरदास के पारिवारिक जीवन पर गोसाईं श्री हरिराय कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से कुछ प्रकाश पड़ता है। सूरदास ने स्वय अपने विषय मे तथा अपने परिवार के विषय मे कही कुछ नही लिखा। वार्ता के आधार पर सूरदास के माता-पिता निर्धन सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके तीन भाई थे, जो इनसे उम्र में बड़े थे। सूरदास अन्धे थे, अत माता-पिता उनकी ओर से उदासीन रहते थे।[5]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डॉ० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृष्ठ १९८-१९९। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने काँकरौली की अष्टछाप पृष्ठ २ को आधार मानते हुए तथा हरिराय कृत भावप्रकाश वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर सूरदास का जन्म-स्थान 'सीही' स्वीकार किया है।
२. सूर निर्णय, पृष्ठ ५२ पर उद्धृत।
३. वही, पृष्ठ ५१।
४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २१२।
५. गोसाईं हरिराय कृत सूरदास की वार्ता, पृष्ठ २-३।

उपेक्षा एव निर्धनता के कारण वे घर से भाग निकले। सीही से चार कोस दूर वे एक तालाव के किनारे पर आकर रुके और एक जमीदार की खोयी हुई गायो का पता वताने के कारण उस जमीदार द्वारा बनवाकर दिये झोंपडे मे वास करने लगे, जहाँ जमीदार ने उनकी सेवकाई मे दो-चार चाकर भी दे दिये। धीरे-धीरे सूरदास की ख्याति वढी और लोग उनसे शकुन-विचार के लिए मिलने लगे। सूरदास की सम्पत्ति भी वढने लगी और उनकी शिष्य मण्डली भी वढ़ चली। इस वीच सूरदास ने गायन कला भी सीख ली और लोग उनके पास सगीत की शिक्षा के लिए भी आने लगे। वे स्वामी कहलाने लगे। कुछ ही दिनो मे सूरदास की गणना वैभवशाली लोगो मे होने लगी।

एक रात सूरदास को अपनी स्थिति पर दुख हुआ और उनमे वैराग्य की भावना पुन. जागी और उन्होने अपने माता-पिता को बुलवाकर सारी सम्पत्ति उन्हे सौप दी और व्रजधाम को चल दिये। कुछ सेवक भी उनके साथ रहे। वहाँ वे मथुरा एव आगरा के वीच यमुना के किनारे एक स्थान गऊ घाट पर रहने लगे।[1] यही पर उनकी भेट वल्लभाचार्यजी से हुई और उनकी प्रेरणा एव दीक्षा से वे कृष्णभक्ति मे हमेशा के लिए रत हो गये और कृष्णभक्ति का एक पुनीत पावन अक्षय स्रोत 'सूरसागर' के रूप मे प्रवाहित हो उठा।

जाति—हम ऊपर सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण कह आये हैं। किन्तु कुछ लोगों ने सूरदास को भाट, ढाढ़ी अथवा जाट जैसी जातियो से सम्वन्धित वताया है। सूरदास को ढाढी वताने वालों ने सूर की रचनाओं को अपना आधार माना है, जिनमे सूर ने अपने को ढाढी कहा है। ऐसे पदों की संख्या भी यथेष्ट है। उदाहरणार्थ—

[१] हौं तो तिहारे घर कौ ढाढी 'सूरदास' मेरो नाऊँ।
[२] हौ तौ तिहारे घर कौ ढाढी नाउँ सुनै सचु पाऊँ।

किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय मे राधाष्टमी के दिन ढाढी वनने की प्रथा महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के समय से ही चली आती है। उस समय श्रीनाथजी के

---

१. सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ५-८।

कीर्तनकारो को ढाढी वनकर आना पड़ता है। सूरदास आदि अष्टछाप के कवि श्रीनाथजी के कीर्तनकार होने के कारण ढाढी बनते थे औरे तत्सम्वन्धी पदो का गायन करते थे। इसका प्रमाण हमे कृष्णदास, चतुर्भुजदास, नन्ददास आदि कवियो के तत्सम्वन्धी वर्णन वाले पदो द्वारा भी मिलता है—

[१] 'कृष्णदास' वल्लभ कुल को ढाढी कीनौ जनम सनाथ। (कृष्णदास)

[२] हौ ढाढी कवहूँ न अघाऊँ, यदपि नन्द दातार। (चतुर्भुजदास)

[३] 'नन्ददास' नन्दराय कौ ढाढी भयौ अजातिक ढोली। (नन्ददास)[१]

सूरदास का पद अन्त साक्ष्य के रूप मे अकित किया जा सकता है जिसमें उन्होने कहा है—

सूरदास प्रभु तुम्हरी भक्ति लगि तजि जाति अपनी।[२]

वल्लभ सम्प्रदायी वार्ताओ से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवत् भक्तो मे सभी जाति के लोगों का समावेश था और वे भगवान् की दासता के नाते एक दूसरे से जाति-पाँति का भेद-भाव नही रखते थे। अतः सूरदास को वार्ताकार के आधार पर[३] तथा प्राणनाथ कवि कृत 'अष्टसखामृत' के आधार पर सारस्वत ब्राह्मण मानने मे कोई आपत्ति नही है।

पडित मुंशीराम शर्मा ने 'सूर सौरभ' में 'साहित्य लहरी' का पद ११८ प्रस्तुत करते हुए सूरदास को महाकवि चन्द वरदाई की वशपरम्परा मे रखने का प्रयत्न किया है।[४] अगर हम पडित मुंशीराम शर्मा के कथन को सत्य मानें तो सूरदास का सारस्वत ब्राह्मण होना अप्रमाणित सिद्ध होता है जिसका कि वार्ता साहित्य मे अनेक स्थलों पर स्पष्ट उल्लेख है।

पडित मुशीराम शर्मा ने इस दिशा मे भी अपना तर्क लडाया है। उनका कथन है कि "सूरदास की जाति के विषय मे कुछ भी निर्णय दे सकना

---

१. सूर निर्णय, पृष्ठ ५८-५९।
२. सूर-सागर, वेंकटेश्वर प्रेस, पृष्ठ १७।
३. "वा सारस्वत ब्राह्मन के घर चौथे सूरदास जी प्रगटे।" सूरदास की वार्ता, पृष्ठ २।
४. सूर सौरभ : पंडित मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ १३।

सम्भव नही है। उनके अब्राह्मण होने के ऊपर लिखित परोक्ष सकेतो के साथ कृष्ण-जन्म सम्बन्धी उन पदो को पढने पर, जिनमे उन्होने अपने को ढाढी के रूप मे कल्पित करके व्यक्तिगत आत्मीयता प्रकट की है,[१] यह अनुमान किया जा सकता है कि, सम्भव है वे वस्तुत' जाति से ढाढी या जगा हो। यदि वे ब्राह्मण होते तो अपने उपास्य देव के जन्मोत्सव पर दीन ब्राह्मण का रूप भी धारण कर सकते थे। अन्त मे अन्य पुष्ट प्रमाणो के मिलने तक यही कह कर सन्तोष किया जा सकता है कि सूरदास कदाचित् ब्राह्मण नही थे, सम्भवतः वे ढाढी, जगा या ब्रह्म भट्ट हो। यह भी सम्भव है कि ब्रह्म भट्ट होने के नाते परम्परागत कवि-वंशज सूर सरस्वती पुत्र और सारस्वत नाम से विख्यात हो गये हो, जो कालान्तर मे सहज ही भक्तो द्वारा सारस्वत ब्राह्मण कर लिया गया।"[२] किन्तु हम इस बात पर ऊपर विचार कर आये है कि ढाढी वाले पद विशिष्ट पूजा के अन्तर्गत गाये जाते थे। हम 'साहित्य लहरी' के उपरोक्त पद को अप्रामाणिक मानते हैं। मात्र उक्त पद के आधार पर सूरदास की जाति का निर्णय करना हम समीचीन नही मानते। हम सूरदास को वार्ता के आधार पर सारस्वत ब्राह्मण ही स्वीकार करते हैं।

अन्धत्व—गोसाईं हरिरायजी ने सूरदास को जन्मान्ध बताया है।[३] प्रभुदयाल मीतल एव द्वारकादास प्रभृति विद्वानों ने सूर को जन्मान्ध माना है और उसके प्रमाण मे अन्त.साक्ष्य के आधार पर सूरदास के दो पद दिये हैं।[४]

---

१. सूरसागर, पद ६५३-६५७।

२ सूर सौरभ, पृष्ठ १३।

३. 'वा सारस्वत ब्राह्मण के घर चौथे सूरदास जी प्रगटे। सो तब इनके नेत्र न देखे, आकार (हू) नाँही।' ......'जो जन्मे पाछै नेत्र जाँय तिनकों आँधरा कहियै, सूर न कहियै, और ये तौ सूर हैं।" (सूरदास की वार्ता, पृष्ठ २-३।)

४. सूर निर्णय, पृष्ठ ६४.

चरन कमल वंदो हरिराई।
जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अधे को सब कछु दरसाई॥
बहिरौ सुनै, मूक पुनि बोलै, रक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय बार बार बदौ तिहि पाई॥

(शेष आगे)

वे इन दो पदो से यह आशय लेते हैं कि "इन उल्लेखो से यह निश्चित होता है कि सिद्ध ज्ञानी भक्त लोग चाहे चक्षुविहीन ही क्यो न हो उस परात्पर ज्ञान के आश्रय से दृश्य एव अदृश्य जगत् के सभी पदार्थो एवं विषयो आदि का यथार्थ रूप से अनुमान करते रहते है। आर्य शास्त्रो के इस सिद्धान्त के दृष्टान्त शुक और सजयादि है।"[1]

किन्तु ध्यान से देखा जाय तो इन पदो को हम अन्त.साक्ष्य के रूप में ग्रहण नही कर सकते। ये पद तो भगवद्-महिमा के परिचायक है। इन पदों मे अन्धे के जगत् देखने का ही उल्लेख नही, अपितु गूँगे, वहरे एवं लँगडे के विपय मे भी कवि की उक्ति है, जिनमे से सूरदास के साथ किसी अभाव का कोई लगाव नही है और न ही माना जाता है। वास्तव मे ये पद भगवद्-शक्ति में भक्त की आस्था के परिचायक है। सूरदास की वार्ता मे भी सूरदास की प्रज्ञा चक्षु शक्ति को परखने का एक उदाहरण दिया गया है—श्री गोविन्दराय, श्री वालकृष्ण और श्री गोकुलनाथ ने अपने वड़े भाई श्री गिरिधर से हठ कर के नवनीत-प्रियजी को शृंगार कराते समय वस्त्र नही पहनाये और जव दर्शन खुले, सूरदासजी को भी दर्शन की एवं वंदना की आज्ञा मिली तव सूरदासजी ने यह पद सुनाया—

देखे री हरि नंगम नंगा।[2]

इस तरह गोसाईजी के वालको ने सूरदास की परीक्षा ली थी अतः वार्ताकार गोसाईं हरिरायजी ने सूरदास को जन्मान्ध वताया है। सूर निर्णय के लेखक द्वय ने सूरदास का निम्न पद भी उनके जन्मान्ध होने के प्रमाण मे प्रस्तुत किया है—

और· हरि जू तुमने कहा न होइ।
रंक सुदामा कियौ इन्द्र सम, पांडव-हित कौरव दल खोइ॥
पतित अजामिल, दासी कुविजा, तिनहूँ के कलिमल सव धोइ।
वोलै गूंग, पंगु गिरि लंघै, अरु आवै अंधा जग जोइ॥
वालक मृतक जिवाय दिये द्विज, जो आये दरवारे होइ।
'सूरदास' प्रभु इच्छा-पूरन, श्री गुपाल समिरन सव कोइ॥

१. वही, पृष्ठ ६४-६५।
२. सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ३८-३९।

किन तेरौ गोविन्द नाम धर्‌यौ ।
सांदीपनि के सुत तुम ल्याये, जव विद्या जाय पढ़्यौ ।।
सुदामा की दालिद्र तुम काटी, तंदुल भेंटि धर्‌यौ ।
द्रुपद सुता की लाज तुम राखी, अंवर दान कर्‌यौ ।।
जव तुम भए लेवादेवा को दाता, हमसूँ कछु न सर्‌यौ ।
'सूर' की विरियाँ निठुर होइ वैठे, जन्म अंध कर्‌यौ ।।[1]

उन्होने एक और पद भी समर्थन हेतु दिया है—

हरि विन संकट मे को का कौ ।

× × × ×

रह्यौ जात एक पतित, जन्म कौ आँधरौ 'सूर' सदाकौ ।।[2]

वाह्य साक्ष्य के तो सूरदास के जन्मान्ध होने के वारे मे कई उल्लेख मिलते हैं । अष्टसखामृत मे भी सूर के जन्मान्ध होने की वात कही गई है ।[3] फिर भी सूर की वर्णन शैली, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ और सजीव वर्णन देखकर मन नही मानता कि सूर ने इन आँखो से यह ससार देखा ही नही था ।

---

१. सूर निर्णय, पृष्ट ७४ ।

२. वही, पृष्ठ ७५ तथा यह पद भी—

नाथ मोहि अव की वेर उवारौ ।
तुम नाथन के नाथ सुवामी, दाता नाम तिहारौ ।।
करमहीन, जनम कौ अंधौ, मोते कौन नकारौ ।

× × × ×

सूरदास साँचौ तव मानै, जो ह्वै मम निस्तारौ ।। (पृष्ठ ७६)

३. वाहर नैन विहीन सो, भीतर नैन विसाल ।
तिन्हैं न जग कछु देखिवौ, लखि हरिरूप निहाल ।।
वाहर अंतर सकल तम, करत ताहि छन दूर ।
हरि पगमारग लखि परत, यातें साँचे सूर ।।
रूप माधुरी हरि लखी, देखे नहिं अनलोक ।
हरिगुन रस-सागर पियौ, हरन सकल जग सोक ।।
(अष्टसखामृत, कवि प्राणनाथ कृत सूर निर्णय, पृष्ठ ७० ।)

जहाँ तक अन्त.साक्ष्य का प्रश्न है, वहाँ भी जन्मान्ध होने की वात केवल साधारण अन्धत्व से सम्वन्ध नही रखती, वह मतिअन्ध की भावना को भी अभिव्यजित करनी है। सूर मतिअन्ध नही थे और न ही कोई इतना साहस कर सकता है कि वह सूर पर ऐसा आक्षेप लगा सके, किन्तु सूर के विनय के पद सूर की इस मनोदशा के परिचायक है, जहाँ उन्होने वार-वार अपने को हेय एवं अधमाधम कहकर सम्वोधित किया है। मेरी अल्प राय मे उपरोक्त पद जिनका 'सूर निर्णय' के लेखको ने सूर को जन्मान्ध सिद्ध करने के लिए उपयोग किया है, सूर की विनीत भावना के ही परिचायक हैं। वे उसके जन्म से चक्षुविहीन होने की ओर इगित नही करते। मेरे इस कथन की पुष्टि स्वयं वे ही पद हैं जिनमे सूर ने अपने को पतित भी कहा है।

सूर के जन्मान्धत्व के विषय मे डॉ० दीनदयालु गुप्त का विचार भी देखने योग्य है—"एक ओर तो वाह्य प्रमाण सूर को जन्मान्ध कहते हैं, दूसरी ओर यदि हम उनकी रचनाओं को अन्ध-विश्वास की आँख को हटा कर साधारण वुद्धि की आँख से देखें तो हमे उनके स्वाभाविक और सजीव भाव चित्रो और वर्णनो के सहारे ज्ञात होगा कि कवि ने संसार के रूप-रग को किसी अवस्था मे अवश्य देखा होगा। वाह्य प्रमाण विरुद्ध होते हुए भी यदि यह मान लिया जाय कि सूरदास अपनी वाल्यावस्था मे ही अन्वे हो गये थे तो इसमे सूर का महत्व कुछ कम नही होता। उनकी कल्पना शक्ति इतनी वढी-चढी थी कि जिस ससार को उन्होने अपरिपक्व वुद्धि से वाल्य अवस्था मे देखा, उसी को अन्वे होने पर अपनी कल्पना शक्ति, अनेक ग्रन्थो के श्रवण द्वारा उपार्जित ज्ञान और अपनी कुशल स्मरण शक्ति के सहारे, प्रौढ और सजीव रूप मे चित्रित कर सके। यथार्थ में देखा जाय तो यह समस्या कोई महत्व की नही है कि वे जन्मान्ध थे अथवा वाद मे अन्वे हुए। इतना सव को मान्य है और इसके वाह्य और आन्तरिक प्रमाण भी है कि सूरदास अन्वे थे और अपनी रचना काल की अवस्था मे भी वे अन्धे थे।"[१]

हम इतना तो स्वीकार करेंगे ही कि महाप्रभु वल्लभाचार्यजी की शरण मे आने के समय सूरदास नेत्रविहीन थे। वार्त्ता मे वताया गया हैं कि जव सूरदास की भेट महाप्रभु वल्लभाचार्य से हुई तो महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ २०२-३।

को 'सूर' कहके सम्बोधित किया,[१] जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य से सम्पर्क में आने के समय सूरदास नेत्रविहीन थे।

कौटुम्बिक जीवन—सूरदास घर से निकल कर सीही से चार कोस दूर तालाव पर अपना निवास वनाकर १८ वर्ष की अवस्था तक रहे।[२] अव उन्हें वैराग्य हुआ और वे सोचने लगे—"जो देखो, मैं श्री भगवान के मिलन अर्थ वैराग्य करिकै घर सो निकस्यौ हतौ, सो यहाँ मायानें ग्रसि लियौ। मोकूँ अपनौ जस काहे कौ वढावनौ हतौ! जो मैं श्री प्रभु कौ जस वढावतौ तो आछौ।"[३] इस कथन से डॉ० दीनदयालु गुप्त यह आशय निकालते हैं कि—"इस कथन से केवल यह प्रकट होता है कि सूरदास अपने जीवन मे सासारिक वैभव का सुख भोग चुके थे, परन्तु विवाह करके उन्होने ऐसा किया था, इसका कोई प्रमाण नही है। अपने विनय एव प्रबोधन के पदो मे उन्होने आत्मग्लानि प्रकट करते हुए कई स्थलो पर सासारिक माया मे लिप्त होने का पश्चात्ताप प्रकट किया है। उन स्थलों पर जहाँ उन्होने 'वनिता-विनोद' की निन्दा की है, वस्तुतः आत्मचारित्रिक वैवाहिक सुख का वर्णन नही किया, वरन् स्त्री-मुख तथा मायालिप्त सासारिक लोगो के मन को लगने वाली चेतावनी तथा प्रवोधन से जगी मानसिक वृत्तियो के प्रति समष्टि रूप से ग्लानि प्रकट की है—

अव मैं नाच्यो वहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहरि चोलना कठ विषय की माल॥

× × × ×

मुक चदन विनोद मुख यह जर जरन वितायो।

---

१ सूरदास की वार्त्ता, पृष्ठ १० तथा सूर निर्णय, पृष्ठ ७१।

२. "या प्रकार सूरदास तालाव पै पीपर के वृक्ष के नीचे वरस अठारै के भये।" (सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ७।)

३. वही, पृष्ठ ७ तथा अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २०१ और अष्टछाप—काँकरौली, पृष्ठ १०।

इस प्रकार सूरदासजी ने कभी विवाह नही किया ।"[१]

सूरदास के विनय के पदो को सूरदास के जीवन की झांकी मान लिया जाय तो सूरदास के आरम्भिक जीवन को भोग-विलास एवं विषय-वासना का जीवन मानना ही पड़ेगा, फिर तो शायद बिल्वमगल की कहानी भी महात्मा सूरदास के जीवन से अभिन्न ही लगेगी, किन्तु हम सूरदास एव विल्वमगल को दो भिन्न व्यक्ति ही मानते है। न ही हम इस बात को ही स्वीकार करना चाहेगे कि सूरदास ने अपने ही हाथो से अपनी आँखे इसलिए निकाल ली थी कि वे उन्हें विषयरत रखती थी।

दीनता-प्रदर्शन एव दीनता के द्वारा ईश्वर के अनुग्रह प्राप्त करने की भावना को भक्ति-भावना के अन्तर्गत विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः हम सूर के विनय के पदो को उनके दीन भाव के परिचायक पदो के ही अन्तर्गत रखेंगे।

साहित्य मे अभिव्यक्त अनुभूति के भी दो पहलू होते है, एक प्रत्यक्ष दूसरा काल्पनिक। काल्पनिक अनुभूति को भी साहित्य मे उतना ही महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है, जितना प्रत्यक्ष अनुभूति को। किसी भी कवि एव कला-कार के लिए यह सम्भव नही कि वह हर अनुभूति को प्रत्यक्ष जीवन मे अनुभव करके देखे। वह तो अपने शारीरिक बन्धनो से अपनी आत्मा को मुक्त कर उसे कण-कण मे बिखेर कर उसकी अनुभूति को निजानुभूति के रूप मे अनुभव करने की क्षमता रखता है और मात्र इसी कारण से ही कहा गया है—"जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।" दूसरी ओर भक्ति के अन्तर्गत सासारिकता के प्रति उदासीनता की भावना सहज एव स्वाभाविक है, अत. विश्व के समस्त भक्त कवियो की वाणी मे सांसारिक सुखोपभोग की भावनाओ के प्रति उदासीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है। जन साधारण मे सासारिकता के प्रति उदासीनता जगाने का सबसे अधिक सबल, सशक्त एवं प्रभावशाली मार्ग यही है कि उसे निजानुभूति बताकर अपनी निन्दा के मार्ग के द्वारा पाठक एव श्रोता के मन मे भी वैराग्य एव आत्मग्लानि की भावना को जगाया जा सके।

'साहित्य लहरी' मे एक पद सूरदास के वंश-परिचय का मिलता है।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २०१।

इससे उनके विषय मे कई घटनाओ पर प्रकाश पडता है। वह पद इस प्रकार है—

प्रथम ही प्रथु जागते भे प्रकट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्माराखु नाम अनूप॥
× × × × ×
तासु वस प्रसस में भौ चन्द चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हौ तिन्है ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीन्हौ प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुन चन्द ता सुत सील चन्द सरूप।
वीरचन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रंतभौर हमीर भूपति संग खेलन जात।' 'आदि[1]

इस पद से मालूम होता है कि सूरदास चंद वरदाई के वशज थे। सूरदास ने इस पद मे सम्पूर्ण वंश-वृक्ष तो दिया है, पर अपने पिता का नामोल्लेख नही किया। इस विषय मे पडित मुन्शीराम शर्मा का विचार है कि सूरदास ने अपने पिता का नाम इसलिए नही दिया कि उनके पिता ने छः पुत्रों को युद्ध में भेजकर और स्वतः मुसलमान वनकर उस कायरता पूर्ण वृत्ति का परिचय दिया था जो परम्परा से चली आयी हुई वीर-कीर्ति-सम्पन्न कुल में महान् कलंक और लज्जा का कारण हुआ। इस लिए सूरदास ने उनका नाम न लिखना ही उचित समझा हो।[2]

उपरोक्त पद के आधार पर सूरदास के छ. वड़े भाइयों का होना सिद्ध होता है, उधर हम वार्ता के आधार पर सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण का चतुर्थ पुत्र सिद्ध कर आये है और वार्ता साहित्य की प्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है।

शिक्षा-दीक्षा और ज्ञान—सूरदास की आरम्भिक शिक्षा के वारे मे कही कोई उल्लेख नही मिलता। चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे भी इस वात पर वार्ताकार मौन रहे हैं। इतना उल्लेख वार्ता मे अवश्य मिलता है कि जब सूरदास सीही से चार कोस दूर पीपल के वृक्ष के नीचे जाकर रहे

---

१. साहित्य लहरी—पद, ११८।
२. सूरसौरभ—भाग १, पडित मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ १६।

थे, तव वे वहाँ पद वनाते थे और गान विद्या का उन्होंने सव साज इकट्ठा कर लिया था।[१]

सूरदास को गला अच्छा मिला था और वे गान विद्या मे निपुण हो गये थे, यहाँ तक कि लोग उनसे गायन सीखने आते थे और उनकी ख्याति वहुत वढ गई थी। वहाँ लोग उन्हे स्वामी कहने लगे थे।

सूरदास ने वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षा स० १५६७ मे ली, जव उनकी भेट गऊ घाट पर महाप्रभु वल्लभाचार्यजी से हुई।[२] सूरदास ने १८ वर्ष की अवस्था मे सीही से चार कोस दूर वाला स्थान त्याग कर गऊ घाट की राह ली थी।[३] सूरदास का जन्म काल हम स० १५३५ मान आये हैं। इस प्रकार सूर ने सीही से चार कोस दूर स्थित अपना स्थान सम्भवत स० १५५३ मे छोडा होगा। उनकी भेट महाप्रभु वल्लभाचार्य से सं० १५६७ मे हुई, अत. निश्चित ही उन्होने वीच का जीवन वही गऊ घाट पर विताया। वहाँ भी सूरदास के अनेक शिष्य हो गये थे और वे निरन्तर पद-रचना द्वारा एव गान द्वारा अपने आराध्य देव की आराधना करते रहते थे।

इतना निश्चित है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेट होने से पूर्व सूरदास गान विद्या एव पद रचना मे पूर्णतया निपुण हो चुके थे। इसका अभ्यास उन्होने कहाँ किया, इसका कही कोई उल्लेख नही। सम्भवत. यह उनकी जन्मजात प्रतिभा के वरदान स्वरूप थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के आग्रह पर सूरदास ने उन्हे अपने दो विनय के पद सुनाये थे।[४]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २०४ पर अष्टछाप—कांकरौली के पृष्ठ ९ के आधार पर उद्धृत।
२ अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ १२७, तथा सूर निर्णय, पृष्ठ ८५।
३ सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ७।
४. हरि हौं सव पतितन कौ नायक।
को करि सकै वरावरि मेरी, और नही कोउ लायक॥
जो प्रभु अजामील कौ दीन्हौ, सो पाटौ लखि पाऊँ।
तो विस्वास होइ मन मेरै, औरौ पतित वुलाऊँ॥
वचन वाँह लै चलौ गाँठि दै, पाऊँ सुख अति भारी।
यह मारग चौगुनी चलाऊँ, तो पूरौ व्यौपारी॥ (शेष आगे)

सूरदास के इन विनय के पदो को सुनकर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूर से कहा था, "जो सूर व्हैकें ऐसौ घिघियात काहे को है ? सो तासों कछु भगवत लीला वरनन करि। तव सूरदास ने श्री आचार्य जी सो विनती कीनी—जो महाराज ! मैं कछु भगवत लीला समझत नाँही हूँ।"[१]

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व सूरदास मात्र विनय के पद ही वनाते थे। वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षा लेने के पश्चात् ही सूर ने भगवद् लीला के पद गाये है। सम्भव है कि विनय के समस्त पद सूर के वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व के ही हो, जो उन्होंने अपने गऊ घाट वास काल मे तथा उससे पूर्व वनाये होंगे। इस विषय में वार्ता का यह वाक्य भी दृष्टव्य है— "सो सगरी श्री सुवोधिनी जी कौ ज्ञान श्री आचार्यजी ने सूरदास के हृदय मे स्थापन कियौ। तब भगवत लीला जस वरनन करिवे कौ सामर्थ भयौ।"[२]

(चालू) यह सुनि जहाँ तहाँ तें सिमिटे आइ होइ इकठोर।
अव कै तौ आपुन लै आयौ, वेर वहुर की ओर॥
होड़ाहोडी मनहिं भावते किए पाप भरि पेट।
ते सव पतित पाय-तर डारौ, यहै हमारी भेट॥
वहुत भरोसौ जानि तुम्हारौ, अघ कीन्हें भरि भाँड़ौ।
लीजै वेगि निवेरि तुरत ही, 'सूर' पतित कौ टाँडौ॥

फेरि दूसरौ पद गायौ। सो पद—

राग सारंग

प्रभु, हौं सव पतितन कौ टीकौ।
और पतित सव दिवस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ॥
वधिक, अजामिल, गनिका तारी, और पूतना ही कौं।
मोहिं छाँडि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ ?
काऊ न समरथ अघ करिवे कौ, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज 'सूर' पतितन मैं, मोहू तें को नीकौ॥

—सूरदास की वार्ता, पृष्ठ १०-११।

१ वही, पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ १३ तथा "श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो।" (सूरसारावली, पृष्ठ ८७।)

"सूरदास के भक्तिभाव के प्रकाशन के प्रसगो से विदित होता है कि उन्हे तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्तो का यथार्थ ज्ञान था।"[१] सूरदास ने यह ज्ञान कैसे अर्जित किया? क्या सूरदास का अन्य दार्शनिक सम्प्रदायो से कोई सम्बन्ध था? ये प्रश्न अनायास ही मन मे खड़े होने लगते है। हमारा विचार है कि सूरदास गऊ घाट पर एक स्वामी की हैसियत मे रहने के कारण वहुश्रुत तो रहे ही होगे। उस समय प्रचलित गोस्वामी हित हरिवंशजी के राधावल्लभी सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास के टट्टी सम्प्रदाय, का व्रज क्षेत्र मे अच्छा प्रभाव था। दूसरी ओर उन्हें वल्लभ सम्प्रदाय की दीक्षा महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे विद्वान व्यक्ति से मिली थी और उनके द्वारा सुनी हुई भगवद् लीला भी स्वभावतया उनके साम्प्रदायिक विचारो से प्रभावित रही होगी। हम यह प्रभाव सूर की सम्पूर्ण साहित्य साधना पर पाते है, पर यह सूर के जीवन का एक भाग वन चुका था और सूर ने उसे एक दार्शनिक विचार अथवा साम्प्रदायिक विचार के रूप मे ग्रहण नही किया था। उन्होंने ये सारी विचारधारा असीम श्रद्धा एव पूर्ण आस्था से महाप्रभु वल्लभाचार्य से कृष्ण कथा के माध्यम से पाई थी, अतः उनके इन सिद्धान्तो के पीछे भावातिरेक है, तार्किक बुद्धि नही, जिससे उनकी रचना मे साहजिकता का गुण विशेष रूप से लक्षित होता है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ सूरदास को पुष्टि मार्ग का जहाज ही कहते थे[२], जिससे एक ओर तो उनके सूरदास के प्रति आदर सम्मान का भाव प्रकट होता है, दूसरी ओर सूर को पुष्टि सम्प्रदाय का सवसे वडा समर्थक भी घोषित करता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ स्वय सूरदास को अन्तिम दर्शन देने के निमित्त पारसौली गये थे। अष्टछाप के आठ कवियों मे सूरदास को ही महाप्रभु वल्लभाचार्य एव गोस्वामी विट्ठलनाथ के अधिक से अधिक सहवास एव सामीप्य का लाभ भी हुआ था, इसीलिए उनमे अन्य भक्तों

---

१ सूरदास . व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ १५।

२. सूरदास के अन्तिम समय गोस्वामी विट्ठलनाथ ने समस्त वैष्णवो से कहा—"पुष्टि मारग कौ जहाज जात है, सो जाको कछू लैनौं होय सो लेउ और उहां जायकै सूरदास जी को देखौ।" (सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ५८।)

की अपेक्षा ज्ञान एव भक्ति का भाव भी अधिक ही मात्रा मे मिलता है वह भी शायद सूरदास के कथनानुसार गुरुप्रसाद का ही पुण्य फल था। सूरदास के मन मे भी गोस्वामी विट्ठलनाथ के प्रति बडा आदर एव सम्मान था। चतुर्भुजदास के कथन पर कि 'सूरदासजी ने ठाकुरजी के लक्षावधि पद किये हैं। परन्तु सूरदासजी ने श्री आचार्यजी महाप्रभुन कौ जस वरनन नाही कियौ।"[१]

इस पर सूरदास ने उत्तर दिया था, "जो मैं तो सगरो जस श्री आचार्यजी कौ ही वरनन कियौ है, जो मैं कछु न्यारौ देखतौ तौ न्यारौ करतौ। पर तैंने मो सौ पूछी है, सो मैं तेरे पास कहत हौ। सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्तन जानियो। सो पद—

राग विहागरौ

भरोसौ दृढ इन चरनन केरौ।
श्री वल्लभ-नख-चन्द-छटा विनु, सव जग माँझ अँधेरौ॥
साधन और नही या कलि मे, जासो होत निवेरौ।
'सूर' कहा कहै दुविधि आँधरौ, विना मोल कौ चेरौ॥"[२]

सूर का गोलोकवास—सूरदास का गोलोकवास पारसौली मे हुआ।[3] वहुत से इतिहासकार सूरदास के निधन काल के विषय मे मौन

---

१. सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ६०।
२. सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ६०।
३. सूरदास के निधन से कुछ समय पूर्व गोस्वामी विट्ठलनाथ ने सूरदास को जगमोहन मे कीर्तन करते न देखकर पूछा—'जो सूरदासजी कहाँ हैं?' तव एक वैष्णव ने विनती कीनी—जो महाराज! सूरदासजी तौ आज मगला आरती के दरसन करिकै पारसौली मे सेवकन सो भगवत-स्मरन करिकै गये है। तव श्री गुसाई जी आप जाने, जो भगवत इच्छा सूरदासजी को वुलावये की भई है। तासो आज सूरदास जी पारसौली गये है। सो तव श्री गुसाई जी आप श्रीमुख सो सगरे वैष्णवन सो यह आज्ञा किये—जो 'पुष्टिमारग कौ जहाज' जात है, सो जाको कछू लैनौ होय, सो लेउ और उहाँ जायकै सूरदास जी को देखौ।" (सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ५७-५८।)

रहे हैं। शिवसिंह सेगर ने शिवसिंह सरोज मे सूरदास की मृत्यु सवत् १६४० दिया है (सूर का उदयकाल), किन्तु उन्होने कोई पुष्ट प्रमाण इसके समर्थन मे नही दिया है।

सूरदास का निवन गोस्वामी विट्ठलनाथ के समक्ष हुआ था, अतः वे अवश्य ही गोस्वामी विट्ठलनाथ की मृत्यु स० १६४२ से पूर्व ही गोलोकवासी हुए होगे।[1]

गोस्वामी विट्ठलनाथ के सुपुत्रो ने श्री नवनीत प्रियजी के अद्भुत श्रृंगार के द्वारा सूरदास के ज्ञान-चक्षुओं की परीक्षा ली थी।[2] श्री नवनीत प्रियजी की स्थापना एव गोस्वामी विट्ठलनाथजी का गोकुल में स्थायित्व काल क्रमशः स० १६२४ एव सं० १६२८ ठहरते है। अतः सूरदास का स० १६३० वि० तक जीवित होना निश्चित होता है।[3]

सूरदास की अकबर से मथुरा मे हुई भेट का विवेचन करते हुए डॉ० दीनदयालु गुप्त ने सूरदास का मृत्यु सवत् १६३९ वि० अनुमान किया है[4] जो शिवसिंह सेगर के अनुमित सवत् से एक वर्ष पूर्व पडता है और सूर की आयु १०३ वर्ष की निश्चित करता है।

प्रभुदयाल मीतल एव पारिखजी सूरदास का निधन स० १६४० ही मानते है।[5] उनके विचार से सूरदास सं० १६४० मे विद्यमान थे। इसके प्रमाण मे उन्होने चतुर्भुजदास कथित "खट ऋतु की वार्ता" का सन्दर्भ दिया है जहाँ श्रीनाथजी के साथ सातो स्वरूपों के प्रथम अन्नकूट के उल्लेख के समय (स० १६४०) सूरदास की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है।[6] दोनों विद्वानो ने अन्त साक्ष्य के आधार पर सूर द्वारा रचित राजभोग एवं छप्पन

---

१. वही, उपरोक्त प्रसग तथा पृष्ठ ५९-६५।

२ वही, पृष्ठ ३८-४०।

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २१५।

४. वही, पृष्ठ २१९।

५ सूर निर्णय, पृष्ठ १०४।

६. सूर निर्णय, पृष्ठ १०२।

भोग विषयक पदो को रखा है।[1] और सम्प्रदायिक इतिहास के अनुसार इस राजभोग का समय सं० १६४० है, जिसमे छप्पन भोग की कल्पना की गयी थी। अतः सूरदास का स० १६४० मे विद्यमान होना सिद्ध हो जाता है।[2]

शिवसिंह सेगर ने सूर का निधन काल सवत् १६४० ही दिया है। भले ही उन्होने प्रमाण न दिये हो पर इतना अवश्य सम्भव है कि उन्होंने प्राप्त जानकारी से यह सवत् दिया होगा, अत. इस संवत् को सूर का निधन मानने मे कोई आपति नही रह जाती।

---

१ भोजन भयौ भाँवनो मोहन। तातौ ई जेंय जाहुगे गोहन॥
खीर खाँड खीचरी सँवारी। मधुर महर अरु गोपिन प्यारी॥
राजभोग लीनो भात पसाय। मूँग ढरहरी हींगु लगाय॥
सद माखन तुलसी दैछायौ। घृत सुवास कचौरिन नायौ॥
पापर, वरी, अचार, परम रुचि। अद्रक अरु निंबु अनि व्हैहैं रुचि॥
× × × × ×
सूरदास देख्यौ गिरिधारी। वोलिदई हँसि झूँठनि थारी॥
वह जेंवनार सुनै जो गावै। सो निज भक्ति अभय पद पावै॥
(सूर निर्णय, पृष्ठ १०० ।)

२. सूर निर्णय, पृष्ठ १०१ ।

द्वितीय खण्ड
सूर साहित्य

तृतीय अध्याय

प्रामाणिक रचनाएँ

सूरदास की तीन रचनाएँ आज प्राप्य हैं—सूरसागर, साहित्य लहरी और सूरसारावली। किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट तथा अनुसन्धान रिपोर्टों के आधार पर सूरदास की निम्न रचनाएँ मानी गयी हैं—

(१) सूरसागर, (२) साहित्य लहरी, (३) सूरसारावली, (४) भागवत भाषा, (५) सूर रामायण, (६) गोवर्धन लीला, (७) भँवर गीत, (८) दशमस्कध भाषा, (९) सूरसागर सार, (१०) मान लीला, (११) राधारसकेलिकौतूहल, (१२) दान लीला, (१३) प्राणप्यारी, (१४) नाग लीला, (१५) व्याहलो, (१६) दृष्टिकूट के पद, (१७) सूर शतक, (१८) सूर साठी, (१९) सूरदास के विनय के तथा स्फुट पद, (२०) एकादशी महात्म्य, (२१) सूर पचीसी, (२२) सेवाफल, (२३) हरिवंश टीका (सस्कृत), (२४) रामजन्म और (२५) नलदमयंती।

हमारे विचार से सकलनकर्ताओ ने अपनी-अपनी अभिरुचि के पदो के सकलन बनाकर इस सूची मे यथेष्ट अभिवृद्धि कर ली है। भागवत भाषा, गोवर्धन लीला, भँवर गीत, दशमस्कन्ध भाषा, सूरसागर सार, मान लीला, राधारसकेलिकौतूहल, दान लीला, नाग लीला, सूरशतक, सूर साठी, सूर पच्चीसी, प्राणप्यारी, व्याहलो, सूरदास के विनय के तथा स्फुट पद सूरसागर का ही अश हैं। इनका अलग स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नही है। सूर रामायण के विषय मे भी हमारा यह मत है कि सूरसागर के बीच मे आयी हुई रामकथा को राम भक्तो ने संकलित कर लिया होगा और इस तरह सूर रामायण नामक एक अलग पुस्तक भी सूर के नाम पर चढ गई होगी।

रामजन्म रचना मे यत्रतत्र सूरदास की छाप लगी हुई है और वही हाल एकादशी महात्म्य का भी है। डॉ० जनार्दन मिश्र ने तो 'सूरजदास' एव 'सूरश्याम' की छाप वाली समस्त रचनाओ को प्रक्षिप्त माना है। हम भले ही

'सरश्याम' छाप वाले पदो को प्रक्षिप्त न माने किन्तु 'सूरजदास' की छाप वाले इन दो ग्रन्थो को सूरदास की रचना न मानने के अन्य प्रमाण भी हमारे पास है।

रामजन्म मे गणपति, राम आदि की वन्दना के पद पाये जाते है जो वल्लभ सम्प्रदाय के एक कवि की रचना मे अस्वाभाविक सा लगता है। अष्टछाप के किसी भी कवि ने अन्य देवी-देवता की वन्दना के पद नही गाये। अत. हम इस रचना को नि.सकोच किसी अन्य सूरदास या सूरजदास की मान सकते है।

एकादशी महात्म्य का भी वही हाल है। इस रचना के आरम्भ मे भी गणपति, शारदा तथा अन्य देवताओं की वन्दना है और फिर राजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा तथा एकादशी महात्म्य सम्बन्धी अन्य कथाएँ हैं। यह ग्रन्थ अवधी भापा मे दोहा-चौपाई छन्द मे लिखा हुआ है।

भाषा एवं साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के आधार पर यह रचना सूरदास की नही मानी जा सकती। हो सकता है कि एकादशी महात्म्य एवं रामजन्म एक ही कवि की रचनाएँ हो।

हरिवंश टीका सस्कृत की रचना है जो सम्भवतः हरिवंश पुराण की टीका है। सूर की किसी सस्कृत रचना का उल्लेख कही नही आया, दूसरी ओर यह रचना भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सूर की रचना मानने मे आपत्ति खडी होती है, अतः हम इसे सूरदास की रचना नही मानते।

नलदयमन्ती का उल्लेख बाबू राधाकृष्णदास ने सूर की जीवनी मे किया था और तब से इस रचना को भी सूर का मान लिया गया है। सूरदास ने मानव प्रशस्ति मे कभी काव्य-रचना नही की। बादशाह अकबर के आग्रह पर भी उन्होने उनकी प्रशसा न गाकर निम्न पद के द्वारा यह दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था—

नाहिन रह्यो मन मे ठौर।
नन्द नन्दन अछत कैसे आनिय उर और॥
चलत चितवत द्यौस जागत सुपन सोवत राति।
हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक लोभ दिखाइ।
कहा करूँ चित प्रेम पूरति घट न सिंधु समाइ॥

स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदुहास।
सूर ऐसे दरस को ए भरत लोचन प्यास॥

डा० मोतीचन्द ने नलदमयन्ती का रचनाकाल स० १७१४ वताया है और ग्रन्थ में आये सूर के वश-परिचय के आधार पर उसे गुरदासपुर जिला कलानौर के कम्बू गोत्र के किसी गोवर्धनदास का पुत्र वताया है। इससे भी यह स्पष्ट जाहिर है कि 'नलदयमन्ती' रचना सूरदास की नही है। सूरदास का निधन काल हम स० १६४० निर्धारित कर चुके है और उन्हे हम सीही वासी सारस्वत व्राह्मण का पुत्र भी सिद्ध कर चुके हैं, अतः निश्चयपूर्वक हम इस रचना को सूरदास की रचनाओं मे सम्मिलित नही कर सकते।

दृष्टिकूट के पद वाली कृति को भी आसानी से सूरदास की 'साहित्य लहरी' का अंश माना जा सकता है जिसमे सूरदास के दृष्टिकूट पद संकलित हैं।

अतः हमारे सामने सूरदास की प्रमाणित रचनाएँ मात्र तीन ही रह जाती है—सूरसागर, सूरसारावली एवं साहित्य लहरी।

सूरसागर—सूरसागर सूरदास की प्रधान एव प्रामाणिक रचना है। इसके तीन सस्करण अभी तक प्रकाशित हुए हैं। एक वम्वई वेंकटेश्वर प्रेस से, दूसरा लखनऊ नवलकिशोर प्रेस से और तीसरा काशी नागरी प्रचारिणी सभा से।

नागरी प्रचारिणी सभा वाले सस्करण मे प्रथम दो सस्करणो मे आये हुए पदो के अतिरिक्त कुछ नये पद भी है जो सूर की प्राप्त अन्य पाण्डुलिपियो के आधार पर उसमे जोडे गये हैं।[1] इस सकलन मे उदयपुर की पाण्डुलिपि जिसका रचनाकाल स०१६९७ है और काशी की पाण्डुलिपि जिसका

---

१ इन पंक्तियो के लेखक की आँखो से सूरसागर की एक अत्यन्त पुरानी पाण्डुलिपि गुजरी है जो फारसी लिपि मे लिपिवद्ध है, जिसका लिपिकाल स० १७८० के अधिक मास की पूनम तिथि है और जो इन्द्रप्रस्थ के शाह मुहम्मदशाह के लिए लिखी गयी थी। इस पाण्डुलिपि का अभी तक किसी सम्पादक ने उपयोग नही किया है। सम्भव है कि इस सकलन के अवलोकन से सूरसागर के कुछ नये पद प्राप्त हों और उनके प्रामाणिक पाठो को भी निर्धारित करने में सहायता मिले।

इससे यह बात स्पष्ट है कि सूरदास के समक्ष दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का कथानक ही मुख्य था और उनकी रचना पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उसमे कवि का मन भी खूब लगा है। वह कथा कहते मानो अघाता ही नही, जहाँ कि अन्य स्कन्धो की कथा को प्रथापालन के हेतु चलता कर दिया है।

सूरदास की प्रामाणिकता के विषय मे सभी विद्वान एक मत है। वार्ता साहित्य मे भी सूरसागर का उल्लेख आया है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूरदास की सम्पूर्ण रचना, जिसके विषय मे सवालाख पदों की किवदन्ती बनी हुई है, सूरसागर मे नही आ पायी होगी। सूरदास ने अपनी रचना के विषय मे स्वय ही कहा है—

'श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला-भेद बतायौ।'
'ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।'[1]

सूरदास का वर्ण्य विषय प्रधान रूप से लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की बाल लीला एव लीला गान है, फिर भी यत्र तत्र उसमे साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का भी समावेश हो गया है। हम इस बात को भले ही स्वीकार करले कि सूर का उद्देश्य दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रचार नही था, फिर भी उन्होने महाप्रभु वल्लभाचार्य से जो भगवद् लीला सुनी थी वह साम्प्रदायिक भाव धारा मे प्रभावित थी। आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य मत सस्थापक एवं शुद्धाद्वैतवादी सम्प्रदाय व पुष्टि सम्प्रदाय के संस्थापक थे। अतः ये साम्प्रदायिक विचार सूर मे सहज भाव से घुल-मिल गये थे और कही भी ऐसा प्रतीत नही होता कि सूर अपने दार्शनिक सिद्धान्त हम पर लाद रहे है। वास्तव मे इस सहज गुण के कारण सूर के दार्शनिक विचार और भी अधिक प्रभावशाली बन गये है और उनका दोहरा असर पडा है।

साहित्य-लहरी—साहित्य-लहरी सूरदास के दृष्टिकूट पदो का सकलन है। दृष्टिकूट पद किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर लिखे जाते है। साहित्य-लहरी के अन्तर्गत आये हुए दृष्टिकूट पदो को कुछ विद्वानो के मतानुसार सूर-सागर से दृष्टिकूट पदो को छाँटकर अलग बनाया गया है। किन्तु साहित्य-लहरी के अन्तर्गत आये पद सूरसागर में नहीं मिलते। यह बात अवश्य हो

---

१. सूर सारावली : प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ ७७।

सकती है कि कुछ लोगो ने सूर के दृष्टिकूट पदो को आरम्भ मे ही सूरसागर से अलग कर उनका अलग सकलन तैयार किया हो। किन्तु ऐसा करने वाले का कोई विशेष उद्देश्य होना चाहिए था। अगर यह मान लिया जाय कि अष्टछाप के ही किसी कवि ने अथवा वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित किसी व्यक्ति ने इस प्रकार की रचनाओ को विशिष्ट लोगो के लिए अलग छाँटकर सकलित किया हो और सूरसागर को जनसाधारण के उपयोगी स्वरूप मे (दृष्टिकूट पद हटाकर) छोड़ दिया हो और बाद के लिपिकारों ने इन दोनों को भिन्न रचनाएँ मानकर दोनो की अलग-अलग प्रतियाँ तैयार की हो तो भी साहित्य-लहरी को सूरसागर का अग मानने मे कोई आपत्ति नही है। इसके लिए हमारे सामने एक और बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि वार्ता साहित्य मे सूरसागर का ही उल्लेख मिलता है, कही भी किसी रूप मे भी सूर की किसी दूसरी रचना का उल्लेख नही आया। वैसे वर्ण्य विषय की दृष्टि से विचार किया जाय तो दृष्टिकूट पद—साहित्य-लहरी के पद भी कृष्ण लीला से ही सम्बन्धित है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा लिखते है—"सम्प्रदाय के मान्य विद्वान गोस्वामी हरिराय ने भी इन दो रचनाओ का कोई सकेत नही किया। यदि उनके समय तक सूरसागर-सारावली और साहित्य-लहरी सूरदास के नाम से प्रचलित हो गई होती तो वे उनका उल्लेख अवश्य करते।"[१]

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के विचार से साहित्य-लहरी निश्चित ही किसी अन्य कवि—सम्भवतः चदबरदाई के वशज सूरजचद नामक ब्रह्मभट्ट की रचना है।[२] इसके समर्थन में डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने निम्न प्रमाण दिये है—

(१) काव्य मे कवि के नाम की छाप सूरजचद, सूरज है जहाँ कि सूरसागर मे इस छाप का नितान्त अभाव है। साहित्य-लहरी मे कुछ ही स्थानो पर सूर शब्द का प्रयोग हुआ है।

(२) पुस्तक का नाम भी यह स्पष्ट कर देता है कि कवि का आशय साहित्यिक पुस्तक लिखने का था, भक्ति विषक रचना का नही। जहाँ कि सूरदास की रचना का प्रधान केन्द्र ही भक्ति भावना रहा है।

(३) साहित्य-लहरी का विषय अलकार और नायिका भेद है।

---

१. सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ४९।
२. वही, पृष्ठ १२५।

रचनाकाल स० १७५३ है, का उपयोग किया गया है, जिनकी प्रामाणिकता स्वयसिद्ध है और जो यथेष्ट पुरानी पाण्डुलिपियाँ है।

सूरदास की रचना के विपय मे मूल चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे 'सहस्रावधि' का उल्लेख आया है। गोस्वामी हरिराय ने सूरदास द्वारा रचित सवा लाख पदो का उल्लेख किया है।[1] उन्होने साहित्य-लहरी एवं सूरसारावली के विषय मे कुछ नही कहा। सूरसागर मे सकलित पदो की सख्या ५-६ हजार से अधिक नही है।

सूरसागर का उल्लेख वार्ता मे भी मिलता है। वार्ता मे कहा गया है कि सूरदास ने श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्धो पर पद-रचना की है और भागवत की भाँति ही सूरसागर का विभाजन भी १२ स्कंधो मे किया गया है और स्थान-स्थान पर भागवत के अनुरूप कथा-वर्णन करने का उल्लेख भी किया है। सूरदास ने सूरसागर के प्रारम्भ मे ही कहा है—

व्यास कहे सुकदेव सो द्वादस स्कंध वनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ॥[2]

उपरोक्त पद तो सूरसागर को श्रीमद्भगवत् का भाषा मे पद्य बद्ध गेय रूप ही सिद्ध करता है, किन्तु सूरसागर श्रीमद्भागवत का भाषा मे (व्रज भापा मे) पद्यवद्ध गेय अनुवाद नही है। इस विषय पर हम 'सूरदास की मौलिकता, शीर्षक के अन्तर्गत विचार करेंगे। उपरोक्त पद से मिलते-जुलते ही सूर के निम्न पद भी देखिए, इनमे भी सूरदास ने अपने कथानक का आधार श्रीमद्भागवन को माना है—

सूर कहौ क्यो कहि सकै जन्म कर्म अवतार।
कहे कछुक गुरु कृपा ते, श्री भागवतऽनुसार॥[3]

---

१. सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ५४-५५। इसके अन्तर्गत हरिरायजी ने वताया है कि एक लाख पदो की रचना स्वय सूरदास ने की है और पच्चीस हजार पद स्वय गोवर्धन नाथ ने लिखकर उसमे 'सूरश्याम' की छाप मे स्थापित कर दिये हैं, जिससे कि सूरदास का सवा लाख पद-निर्माण का सकल्प पूरा हो गया।

२ स्कन्ध १, पद २२५।

३. स्कन्ध २, पद ३७६।

सुकदेव कह्यो जाहि प्रकार।
सूर कह्यो ताहि अनुसार ॥[1]
× × ×
तिन हित जो जो किए अवतार।
कहौं सूर भागवतऽनुसार ॥[2]
× × ×
तहँ कियो जज्ञ पुरुष अवतार।
सूर कह्यो भागवतऽनुसार ॥ [3]
× × ×
सुक ज्यो राजा को समझायौ।
सूरदास त्यो ही कहि गायौ ॥[4]
× × ×

सूरदास के प्रथम स्कन्ध मे १२१२ विनय के पद तथा २१६ अन्य पद एव १०७ प्रथम स्कन्ध के पद जुड़े हैं और प्रथम स्कन्ध दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध की भाँति व्यापक हो गया है जिसमे ३६३६ पद हैं, जहाँ शेष स्कन्धो में आये पदों की सख्या इनके सम्मुख अत्यन्त न्यून है। सभी स्कन्ध मिल कर भी दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का आठवाँ भाग भी मुश्किल से होते हैं, जहाँ कि श्रीमद्भागवत में स्थिति इससे भिन्न है। श्रीमद्भागवत मे दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध की पृष्ठ संख्या अन्य स्कन्धो की अपेक्षा अधिक अवश्य है, पर इतनी नही। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध की पृष्ठ सख्या १८८ है तो उत्तरार्द्ध की १७३ है, तृतीय एव चतुर्थ स्कन्धों की पृष्ठ सख्या भी क्रमश १४० एव १३८ है। अत. यह कोई विशेष अन्तर नहीं जान पडता।

---

१. स्कन्ध ३, पद ३८७। 'सूर कह्यो भागवतऽनुसार' की अनेक वार अनेक स्थानों पर पुनरावृत्ति हुई है।
२. स्कन्ध ३, पद ३६०।
३. स्कन्ध ४, पद ३६८।
४ स्कन्ध ४, पद ४०६। इस पद से मिलते-जुलते एकाध अक्षर के भेद इस पंक्ति की पुनरावृत्ति १०-१२ स्थानो पर हुई है। बहुधा प्रत्येक स्कन्ध मे ये पंक्तियाँ थोड़े हेर-फेर से आ गयी है।

इससे यह वात स्पष्ट है कि सूरदास के समक्ष दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का कथानक ही मुख्य था और उनकी रचना पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उसमे कवि का मन भी खूब लगा है। वह कथा कहते मानो अघाता ही नही, जहाँ कि अन्य स्कन्धो की कथा को प्रथापालन के हेतु चलता कर दिया है।

सूरदास की प्रामाणिकता के विपय मे सभी विद्वान एक मत है। वार्ता साहित्य मे भी सूरसागर का उल्लेख आया है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूरदास की सम्पूर्ण रचना, जिसके विषय मे सवालाख पदो की किंवदन्ती वनी हुई है, सूरसागर मे नही आ पायी होगी। सूरदास ने अपनी रचना के विपय मे स्वय ही कहा है—

'श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला-भेद वतायौ।'
'ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद वन्द।'[1]

सूरदास का वर्ण्य विषय प्रधान रूप से लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की वाल लीला एव लीला गान है, फिर भी यत्र तत्र उसमे साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का भी समावेश हो गया है। हम इस वात को भले ही स्वीकार करले कि सूर का उद्देश्य दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रचार नहीं था, फिर भी उन्होने महाप्रभु वल्लभाचार्य से जो भगवद् लीला सुनी थी वह साम्प्रदायिक भाव धारा से प्रभावित थी। आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य मत सस्थापक एवं शुद्धाद्वैतवादी सम्प्रदाय व पुष्टि सम्प्रदाय के सस्थापक थे। अतः ये साम्प्रदायिक विचार सूर मे सहज भाव से घुल-मिल गये थे और कही भी ऐसा प्रतीत नही होता कि सूर अपने दार्शनिक सिद्धान्त हम पर लाद रहे है। वास्तव मे इस सहज गुण के कारण सूर के दार्शनिक विचार और भी अधिक प्रभावशाली वन गये हैं और उनका दोहरा असर पडा है।

साहित्य-लहरी—साहित्य-लहरी सूरदास के दृष्टिकूट पदो का संकलन है। दृष्टिकूट पद किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर लिखे जाते है। साहित्य-लहरी के अन्तर्गत आये हुए दृष्टिकूट पदो को कुछ विद्वानो के मतानुसार सूरसागर से दृष्टिकूट पदो को छाँटकर अलग वनाया गया है। किन्तु साहित्य-लहरी के अन्तर्गत आये पद सूरसागर मे नही मिलते। यह वात अवश्य हो

---

१. सूर सारावली : प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ ७७।

सकती है कि कुछ लोगो ने सूर के दृष्टिकूट पदो को आरम्भ मे ही सूरसागर से अलग कर उनका अलग सकलन तैयार किया हो। किन्तु ऐसा करने वाले का कोई विशेष उद्देश्य होना चाहिए था। अगर यह मान लिया जाय कि अष्टछाप के ही किसी कवि ने अथवा वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित किसी व्यक्ति ने इस प्रकार की रचनाओं को विशिष्ट लोगो के लिए अलग छाँटकर संकलित किया हो और सूरसागर को जनसाधारण के उपयोगी स्वरूप मे (दृष्टिकूट पद हटाकर) छोड दिया हो और वाद के लिपिकारो ने इन दोनों को भिन्न रचनाएँ मानकर दोनो की अलग-अलग प्रतियाँ तैयार की हो तो भी साहित्य-लहरी को सूरसागर का अग मानने मे कोई आपत्ति नही है। इसके लिए हमारे सामने एक और वात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि वार्ता साहित्य मे सूरसागर का ही उल्लेख मिलता है, कही भी किसी रूप मे भी सूर की किसी दूसरी रचना का उल्लेख नही आया। वैसे वर्ण्य विपय की दृष्टि से विचार किया जाय तो दृष्टिकूट पद—साहित्य-लहरी के पद भी कृष्ण लीला से ही सम्वन्धित है। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा लिखते हैं—"सम्प्रदाय के मान्य विद्वान गोस्वामी हरिराय ने भी इन दो रचनाओ का कोई सकेत नही किया। यदि उनके समय तक सूरसागर-सारावली और साहित्य-लहरी सूरदास के नाम से प्रचलित हो गई होती तो वे उनका उल्लेख अवश्य करते।"[1]

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के विचार से साहित्य-लहरी निश्चित ही किसी अन्य कवि—सम्भवतः चंदवरदाई के वशज सूरजचद नामक व्रह्मभट्ट की रचना है।[2] इसके समर्थन मे डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने निम्न प्रमाण दिये है—

(१) काव्य मे कवि के नाम की छाप सूरजचद, सूरज है जहाँ कि सूरसागर मे इस छाप का नितान्त अभाव है। साहित्य-लहरी मे कुछ ही स्थानो पर सूर शब्द का प्रयोग हुआ है।

(२) पुस्तक का नाम भी यह स्पष्ट कर देता है कि कवि का आशय साहित्यिक पुस्तक लिखने का था, भक्ति विपक रचना का नही। जहाँ कि सूरदास की रचना का प्रधान केन्द्र ही भक्ति भावना रहा है।

(३) साहित्य-लहरी का विपय अलकार और नायिका भेद है।

---

१. सूरदास : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ४६।

२. वही, पृष्ठ १२५।

(४) सूरसागर के समस्त कूट पद राधा अथवा गोपियो के प्रेम प्रसगो से सम्बन्धित है। परन्तु साहित्य-लहरी के अधिकाश पद कृष्ण चरित से सम्बन्धित होते हुए भी पद ३, ४, ७, ८, ९, १५, १६, १९, २१, २२, २३, २४, २८, २९, ३२, ३४, ४७, ४८, ४९, ५५, ५७, ६२, ६७, ६८, ७०, ७१, ७२, ८४, ८५, ८९, ९०, ९१, ९६, ९९, १०१, १०७, ११५ और ११७ मे राधा, कृष्ण आदि का उल्लेख तक नही है। नायिका भेद और शृगार से सम्बन्धित होने के कारण उन्हे भले ही परोक्ष रूप से राधा-कृष्ण विषयक कहा जाय, परन्तु उनका विषय सामान्य है।

(५) सूरदास की भावना के एव दृष्टकूट पदो के वर्ण्य विषय की दृष्टि से भी साहित्य-लहरी एव सूरसागर की रचना मे मौलिक अन्तर है। दृष्टकूट पदो के अनुरूप साहित्य-लहरी के पदो मे नखशिख वर्णन (विशेष रूप से राधा का) नही है और उनमे दाम्पत्य-रति का अभाव है।

(६) साहित्य-लहरी मे कवित्व शक्ति का भी अभाव है। न उसमे भावानुभूति के दर्शन होते है और न कल्पना-सृष्टि मे ही कोई नयापन एव आकर्षण है।

(७) साहित्य-लहरी की शैली शिथिल, असमर्थ, असस्कृत और किसी अश मे बहुत असाहित्यिक है।[1]

डा० ब्रजेश्वर वर्मा के उपरोक्त तर्को का उत्तर खोजने के लिए पुष्टि सम्प्रदाय की भक्ति प्रणाली को जान लेना आवश्यक है। पुष्टि सम्प्रदाय मे श्रीकृष्ण को 'रसोवैस' श्रुति के अनुसार रसात्मक माना गया है और सम्पूर्ण विश्व मे अभिव्यक्त आनन्द रस को भगवद्रूप माना गया है।[2]

अष्टछाप के दूसरे प्रमुख कवि नन्ददास की रूपमजरी का आधार भी यही भगवान का आनन्द रस रूप ही है—

रूप-प्रेम-आनद-रस जो कछु जग मे आहि।
सो सब गिरधर देव को निधरक बरनौं ताहि॥

ऐसी स्थिति मे सूरदास द्वारा इस प्रकार की काव्य-रचना अस्वाभाविक प्रतीत नही होती। नन्ददास ने तो काव्य-रचना मे सूरदास को अपना गुरु माना

---

१ वही, पृष्ठ १०५-२६।
२ 'वस्तु तस्तु ब्रह्माण्ड मध्ये आनदोऽभिव्यक्तस्तिष्टति भगवद्रूप।' (सुबोधिनी)

है। विशिष्ट प्रसंगो की रसानुभूति का अधिकारी सर्वसाधारण को न मानकर केवल अधिकारी व्यक्तियो के लिए ऐसे प्रसगो को दृष्टिकूट शैली मे लिखने की प्रवृत्ति हमारे यहाँ पुरानी है। सिद्ध साहित्य मे भी इसके प्रमाण खोजे जा सकते हैं।

प्रभुदयाल मीतल एव द्वारकानाथ पारिख के विचार से "साहित्य-लहरी का नाम और उसका वाह्य कलेवर काव्य-साहित्य का सूचक होते हुए भी वह भक्ति की उच्चतम भावना से अनुप्राणित है। इससे कवि का उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण की रहस्यमयी लीलाओ का गायन करना मात्र था, साहित्यिक नेतृत्व करना नही। दूसरी वात यह है कि इन पदो मे काव्योक्त (लौकिक प्रकारो वाली) कृष्ण लीलाएँ होने से उन्हे गूढ रखना आवश्यक था, अतः इनमे प्राप्य नायिकाओ के उल्लेखो मे भी कुछ गूढता लायी गयी है, जिसके कारण नखशिख वर्णन न होते हुए भी इसमे दृष्टिकूट शैली की नितान्त आवश्यकता थी।"[1]

वार्ता साहित्य मे साहित्य-लहरी का उल्लेख नही हुआ है किन्तु वार्ता साहित्य चरित्र रूप मे आद्योपान्त लिखा गया साहित्य नही है। प्रसंग चल पडने से उसका वर्णन किया गया है। अतः साहित्य-लहरी का वार्ता साहित्य मे उल्लेख न होना उसकी अप्रामाणिक रचना का कारण नही माना जा सकता। साहित्य-लहरी मे आये हुए नायक-मान प्रसग भी अष्टछाप सम्प्रदाय के अनुकूल ही पडते हैं।

फिर हम यह भी क्यो मानें कि एक सिद्धहस्त कवि जो साहित्य-लहरी जैसी साहित्यक रचना का निर्माण कर सकता है, अपने नाम को अन्य कवि के नाम से मिला कर उसे भ्रामक रूप मे क्यो प्रस्तुत करना चाहेगा ? रही वात वश-परम्परा वाले पद की, हमारी दृष्टि मे वह पद प्रक्षिप्त है जो वाद के किसी कवि ने साहित्य-लहरी को अपनी कृति घोपित करने के लिए अथवा किसी ब्रह्मभट्ट ने सूर को निज गोत्र का वनाने के लिए जोड दिया होगा।

हम यहाँ साहित्य-लहरी एवं सूरसागर के दृष्टकूट पदों के कतिपय अश प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमे भाव साम्य एव शैलीगत समानता स्वयं लक्षित होती है—

---

१. सूर निर्णय, पृष्ठ १४६।

(१) ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि, खान हरष मन वाढौ ॥
(साहित्य-लहरी)

ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि, को वरजै हमे खात ॥ (सूरसागर)

(२) जवते हौ हरि रूप निहारौ ।
तव ते कहा कहौं री सजनी, लागत जग अँधियारौ ॥
(साहित्य-लहरी, पृष्ठ ७८, पद ३८)

जवते सुन्दर वदन निहारौ ।
ता दिन ते मधुकर मन अटक्यौ, वहुत करी निकरै न निकारौ ॥
(सूरसागर)

(३) पिय विन वहत वैरिन वाड ।
मदन वान कमान लायौ करपिकोप चढाइ ॥
(साहित्य-लहरी, पृष्ठ २०५, शेप कूट पद सख्या ३)

पिय विन नागिन कारी रात ।
कवहुँक जामिन होत जुन्हैया डसि उल्टी व्है जात ॥ (सूरसागर)

उपरोक्त तीन उदाहरणो से ही कवि की भाषा शैली मे साम्य एव भाव मे समानता लक्षित हो सकती है। दूसरी वात यह भी है कि साहित्य-लहरी कवि की स्वतन्त्र रचना है, उसका आधार श्रीमद्भागवत नही है और न ही श्रीकृष्ण की जीवन गाथा है। उसमे कवि ने श्रीकृष्ण के रसिक रूप को ही प्रस्तुत किया है और वास्तव में यह कवि की मौलिक उद्भावना है, फिर भी इसे हम साम्प्रदायिक परम्परा के पूर्णतया अनुकूल ही पाते है, अत हमारी दृष्टि मे साहित्य-लहरी सूरदास की प्रामाणिक रचना है।

सूरसारावली—कई विद्वानो ने सूरसारावली को भी अप्रामाणिक रचना माना है, जिनमे डॉ० प्रेमनारायण टण्डन एव डॉ० व्रजेश्वर वर्मा प्रधान है। डॉ० प्रेमनारायण टण्डन ने तो सूरसारावली की एक-एक पक्ति को पकड कर उसे अप्रमाणित सिद्ध करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है और वताया है कि भाव एव भाषा की दृष्टि से यह सूरदास की रचना हो ही नही सकती।

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने सूरसारावली की सूरसागर से विभिन्नता विस्तारपूर्वक वताई है। उनके विचारानुसार भाषा-रचना भी सूरसागर एव सूरसारावली को अलग-अलग कवियो की रचना सावित करती है। भाषा

के विपय मे उन्होंने व्याकरण के कुछ रूप प्रस्तुत किये हैं।[1] उनका कथन है—"सारावली के कवि ने स्पष्टतया अपने कवित्व को सूरदास के साथ मिलाने का पूरा प्रयत्न किया है। वल्लभाचार्य के शिष्यत्व का स्पष्ट कथन करके उसने अपने किसी अन्य सूरदास होने के सन्देह का भी निवारण कर दिया। 'एक लक्ष' पदो का उल्लेख भी उसने कदाचित् इसी उद्देश्य से किया।"[2] अन्त मे निर्णय देते हुए वे कहते है—"यह नि:सकोच कहा जा सकता है कि कथावस्तु, भाव, भाषा शैली, और रचना के दृष्टिकोण के विचार से सूरसागर-सारावली, सूरदास की प्रामाणिक रचना नही जान पडती। तथा-कथित आत्म कथन और कवि छापो मे भी यही संकेत मिलता है।"[3]

सूर निर्णय के लेखको ने सूरसारावली को प्रमाणित रचना वताते हुए लिखा है—"महाप्रभु ने लीला भेद से भागवत के द्वादश स्कन्धो का अर्थ पुरुपोत्तम सहस्रनाम के उपदेश द्वारा सूरदास के हृदय मे स्थापित किया था। इसी के अनुसधान से सूरदास ने श्रीमद्भागवत को दो प्रकार से गाया था। एक द्वादश स्कन्धात्मक कथा रूप से, जिसको सूरसागर कहते हैं, और दूसरे उसके सिद्धान्तात्मक सर्गादि दशविध लीलाओ के सार-तत्व रूप से जिनको उन्होने सारावली नाम दिया है।×××× सारावली 'पुरुपोत्तम सहस्रनाम' के आधार पर की गयी होने से उसमे उन लीलाओ के अनुकूल और पोषक अन्य पुराणादि की कथाओ का भी समावेश हुआ है।"[4]

सूरसारावली की प्रामाणिकता के लिए डॉ० दीनदयालु गुप्त ने भी सारावली की निम्न पक्तियों को प्रस्तुत किया है—

करम-जोग पुनि ज्ञान-उपासन, सब ही भ्रम भरमायौ।
श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला भेद वतायौ॥

---

१. सूरदास, पृष्ठ ९०-१०३ (१४ पृष्ठो मे लेखक ने विस्तारपूर्वक सूर-सारावली एव सूरसागर की भिन्नता पर प्रकाश डाला है।)
२. वही, पृष्ठ १०३।
३. वही, पृष्ठ १०५।
४ सूर निर्णय, पृष्ठ १२४।

ता दिन ते हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द ;
ताकौ सार 'सूर' सारावलि, गावत अति आनन्द ।।[1]

सूरसारावली का रचना काल कवि ने ६७ वर्ष की आयु बताई है—

गुरु-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठ वरस प्रबीन ।
सिव विधान तप करेउ वहुत दिन, तऊ पारि नही लीन ।।[2]

सूरदास का जन्मकाल सवत् १५३५ है, अतः सूरसारावली का रचना-काल सवत् १६०२ सिद्ध होता है ।

सूरसारावली को अप्रामाणिक रचना मानने वालो ने यह शंका उठायी है कि क्या सूर ने सवत् १६०२ तक एक लाख पदो की रचना कर डाली थी ?

इस शका का समाधान करने के लिए निम्न वातों पर विचार करना आवश्यक है—

डॉ० हरिवशलाल शर्मा लिखते है—"एक लाख पक्तियाँ दस सहस्र पदो से भी कम मे आ सकती है और ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होने अवश्य इतने पदो की रचना कर ली होगी अथवा कवि की भावी पद निर्माण-योजना का भी यह सूचक हो सकती है ।"[3]

कुछ विद्वानो ने इस ६७ वर्ष की अवस्था को कवि की सम्प्रदाय मे प्रविष्ट होने की आयु माना है जिमसे सूरसारावली का रचनाकाल सं० १६३४ सिद्ध होता है । वैसे तो इस वात को भी सहर्ष स्वीकार किया जा सकता है कि सूर जैसा भक्त कवि अपने केवल उस जीवन काल को ही सार्थक मानकर उसकी गणना करना चाह रहा हो, किन्तु इस वात को हम इसलिए भी स्वीकृत नही करना चाहते कि सवत्सर लीलाओ मे सं० १६१५ के पश्चात् वढाये गये वार्षिक उत्सवों का सारावली मे कही वर्णन नही आया। अगर यह वास्तव मे स० १६३४ की रचना होती तो कवि इन उत्सवो के प्रति उदासीनता नही वरतता ।

कवि की उक्ति "एक लक्ष पद वद" का एक और अर्थ प्रभुदयाल

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृष्ठ, ८३-८४ (सूरसारावली पद ११०२ व ११०३, पृष्ठ ८७) ।
२. सूरसारावली, पद १००२, पृष्ठ ८० ।
३. सूर और उनका साहित्य · डॉ० हरवशलाल शर्मा, पृष्ठ ६२ ।

मीतल ने दिया है—वे लक्ष को लक्ष्य या उद्देश्य का पर्यायवाची मानकर यह कहना चाहते हैं—"अपने गुरु श्री वल्लभाचार्यजी से तत्व और लीला भेद का रहस्य जानकर उन्होने इसी एक लक्ष से पदवद्ध हरिलीला का गायन किया। एक लक्ष का दूसरा अर्थ साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण होता है।"[१]

लक्ष का अर्थ अगर लक्ष्य ही लेना समीचीन हो तो इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि 'हरि के चरणो मे लक्ष्य बाँधकर मैंने उनकी लीला का गान किया है।' और अगर लक्ष का अर्थ भगवान कृष्ण ही लेना हो तो भी हम कह सकते हैं कि कवि का यह भी आशय हो सकता है कि "हरि के चरणों की वन्दना कर मैंने हरि की (उनकी) लीला का गान किया है।"

डॉ० दीनदयालु गुप्त सूरसारावली की प्रामाणिकता के विषय मे लिखते है—"सूरसारावली मे भाषा का वही ब्रज-रूप और वही लालित्य है, जो सूरसागर में है।"[२]

हम ऐसे अनेक पदो को तुलनात्मक दृष्टि से देख सकते है जो सूरसागर एव सूरसारावली मे समानता लिये हुए है। प्रभुदयाल मीतल ने सारावली की भूमिका मे ऐसे पचासो पद तुलनानात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किये हैं जिनका अवलोकन हमे इस बात को मानने के लिए बाध्य करता है कि सूरसारावली भी सूरदास की ही रचना है।

---

१. सूरसारावली . सं० प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ २१।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २८६।

चतुर्थ अध्याय

रचनाओं का संक्षिप्त परिचय

१. सूरसागर—सूरसागर सूरदास की प्रामाणिक रचना है जिसमे सूर के नाम पर चढ़े अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थो का समावेश हो जाता है। सूरदास के नाम पर प्रसिद्ध २६ ग्रन्थो में से भागवत भाषा, दशस्कन्ध भाषा, सूरसागर सार, मान लीला, राधारसकेलिकौतुहल, गोवर्धन लीला, दान लीला, नाग लीला, भँवरगीत, व्याहलो, प्राणप्यारी, सूरसाठी, सूरपचीसी, सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद, सूर शतक, दृष्टिकूट के पद, ये १६ रचनाएँ तो सूरसागर का ही अंश है। अत. वास्तव मे सूरसागर सागर के समान ही व्यापक ग्रन्थ-रत्नाकर है जिसमे अनेक भाव रूपी रत्नो का समावेश हो गया है। सागर रत्नाकर तो होता ही है जहाँ नित्य रत्नो की उपलब्धि होती रहती है, फिर भी सागर-मन्थन से १४ रत्न विशेष रूप से प्रकाश मे आये थे। अगर सूरसागर का भी चिंतन-विलोडन किया जाय तो उसमे विशेष प्रमुख रत्न भी प्राप्य होगे। हम उन्हें लाला भगवानदीन 'दीन' के शब्दो मे पचरत्न (विनय के पद, वात्सल्य रस के पद, रूपमाधुर्य, मुरली माधुर्य एव भ्रमर गीत) के अन्तर्गत भी मान सकते हैं।

सूरसागर श्रीमद्भागवत का भाषानुवाद नही है। कवि ने कथानक की दृष्टि से श्रीमद्भागवत को आधार अवश्य ही माना है, पर रचना मे कवि की मौलिकता का परिचय हमे यत्र-तत्र मिलता है। भले ही कई स्थलों पर कवि ने इस बात की ओर सकेत किया हो कि वह अपनी कथा व्यासजी के अनुसार अथवा भागवत के अनुसार कह रहा है—

व्यास कहे शुकदेव सो द्वादश स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

× × × ×

जैसे शुक को व्यास पढ़ायो।
सूरदास तैसे कहि गायो॥
× × ×
सूर कह्यो भागवतऽनुसार।

सूरसागर की कथा श्रीमद्भागवत के अनुसार ही दस स्कन्धो मे बँटी हुई मिलती है किन्तु इन स्कन्धो की पद सख्या पर विचार करने से विदित होता है कि कुछ स्कन्धो की कथा को केवल प्रथा-पालन के हेतु अपनाया है और चलता कर दिया है। सूर का मन वास्तव मे भगवान कृष्ण के लीला गान मे ही रमा है और दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध के आठवें भाग की बराबरी भी सूरसागर का शेष कलेवर नही कर पाता, जिसमे कुल ४५७८ पदो मे से ३९३६ पद आ गये है।

सूरदास ने विष्णु के दस अवतारो मे से कृष्ण एव राम के अवतार को ही प्रधानता दी है। श्रीमद्भागवत मे दशमस्कन्ध का उत्तरार्द्ध बडा व्यापक है, जहाँ कि सूरदास ने उसमे केवल १४२ पदो मे काम चला लिया है। सूरसागर में रामकथा श्रीमद्भागवत की अपेक्षा विशद् रूप मे आयी है।

श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध की अपेक्षा सूरसागर की कथा का पट इतना व्यापक है कि उसे श्रीमद्भागवत का अनुवाद कह ही नही सकते। भगवान कृष्ण के जन्म से लेकर उसके गोप-गोपियो के साथ लीला, कृष्ण के मथुरा गमन, गोपियो के विरह वर्णन, उद्धव-गोपियों के संवाद मे इतनी मौलिकता है कि हम उसे भागवत का अनुवाद नही मान सकते। श्रीमद्भागवत मे भगवान कृष्ण के अलौकिक रूप को प्रस्तुत करना ही भागवतकार का उद्देश्य रहा है और उसका शक्तिशाली रूप ही पाठको के सामने खड़ा होता है, किन्तु सूरसागर मे कृष्ण की लौकिक लीलाओं ने कृष्ण को जनमन का अभिनेता बना लिया है।

राधा एव कृष्ण के मिलन की उद्भावना भी सूर की निजी मौलिकता है। उन्होने राधा एव कृष्ण को बालक रूप मे एक दूसरे के समीप लाकर सहज स्वाभाविक सहवास जन्य प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। देखिए—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये श्याम रवि तनया के तट अग ललित चदन की खोरी॥

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल, भाल दिए रोरी ।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी ।।

और फिर इस सौन्दर्यजनित आकर्षण एव प्रथम वातचीत को कवि ने कितना स्वाभाविक रूप मे अकित किया है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी !
कहाँ रहित, काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूँ व्रज खोरी ।।
"काहे को हम व्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी ।
सुनति रहति श्रवनन नद-ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ।।"
"तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलो सग मिलि जोरी ।"
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि वातन भुमइ राधिका भोरी ।।

भ्रमर गीत की कल्पना भी सूर की मौलिक कल्पना है । भागवत मे यह प्रसग वहुत ही संक्षिप्त है और भागवत की गोपियाँ चुपचाप उद्धव की बाते सुन लेती है । किन्तु सूर की गोपियाँ उद्धव को आडे हाथो लेती हैं और उद्धव अपनी ज्ञान की गठरी गँवाकर व्रज से गोप का वेश धारण कर कृष्ण के पास पहुँचते है । गये थे गोपियो को ज्ञान पढाने, पर स्वय उनके प्रेमरग मे रग कर लौटे । यहाँ ज्ञान पर प्रेम और भक्ति की विजय द्वारा जहाँ सूरदास ने समसामयिक निर्गुण भाव धारा पर सगुणोपासना की विजय प्रतिपादित की है, वहाँ यह विप्रलम्भ साहित्य का अनूठा एव अद्वितीय उदाहरण भी बन गया है।

सूरसागर के विशेषकर प्रथम एव द्वितीय स्कन्ध मे सूरदास ने माया, भक्ति, गुरु महिमा आदि प्रसग भी अपनी ओर से जोड दिये है । साथ ही सूरदास ने सूरसागर मे मगलाचरण या प्रस्तावना को कोई स्थान नही दिया । सूरदास के विनय के पद, जिनका रचनाकाल सं० १५६७ से पूर्व (उनके महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा पाने से पूर्व) का माना गया है, भी सूरसागर मे आ गये है । सूरदास तो भगवानकृष्ण की लीला का गान करना चाहते थे, उनकी कथा कहना उनका उद्देश्य नही था । इसी से कई एक पदो मे भाव-साम्य एव पुनरावृत्ति की झलक दृष्टिगत होती है ।

सूरसागर के पाँच प्रमुख रत्नो का हम सूरदास के भाव पक्ष के अन्तर्गत विवेचन करेंगे ।

सूरसागर विशालकाय ग्रन्थ होते हुए भी प्रवन्ध काव्य की कोटि मे

नही आता, उसे मुक्तक प्रवन्ध कहना ही ठीक होगा। उसका हरेक पद अपने मे परिपूर्ण है जिसको कवि ने किसी विशिष्ट भाव दशा मे ही गाया है।

साहित्य-लहरी—साहित्य-लहरी मे सूरदास के वे दृष्टिकूट पद सकलित है जो सूरसागर मे स्थान नही पा सके हैं, जिनकी साहित्यिकता मे कुछ पडिताऊपन की झलक भी विद्यमान है। यह एक शास्त्रीय ग्रन्थ सा लगता है। इसमे नायिका भेद, अलकार, रसनिरूपण आदि के उदाहरण स्वरूप वहुत से पद मिलने है। ये पद मूरसागर मे आये दृष्टिकूट पदों से भिन्न है।

दृष्टिकूट शैली मे स्वय रूपकानिशयोक्ति अलकार माना जाता है। रूपकातिशयोक्ति आधार बनाकर भी मूरदास ने इस रचना मे नायिका, रस, भाव तथा अलंकारो के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस शैली को देखकर अनेक विद्वानो ने इस रचना की प्रामाणिकता मे सन्देह उत्पन्न किया है। इस पर हम रचनाओ की प्रामाणिकता के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक चर्चा कर आये हैं।

साहित्य-लहरी की रचना का मूल उद्देश्य भी भगवान कृष्ण की रहस्यात्मक लीलाओ का गान ही है। कवि ने इस रचना द्वारा अपने को साहित्यकार सिद्ध करने का प्रयत्न नही किया है। पुराने जमाने मे यह प्रथा थी कि कुछ रहस्य प्रसगो को केवल अधिकारी व्यक्तियो के समक्ष प्रकट करने की परिपाटी थी। अत उन प्रसगो को ऐसा रूप दे दिया जाता था कि केवल ज्ञानी व्यक्ति एव सम्प्रदाय से सुपरिचित व्यक्ति ही उसका रहस्य जानकर रसास्वादन कर सकता था। सिद्ध साहित्य में सन्ध्या भाषा, कवीर की उलट-वासियाँ भी इस भाव का प्रमाण हैं। सूरदास ने इन पदो मे काव्योक्त (लौकिक प्रकारो वाली) कृष्ण लीलाओ का गान करने के लिए इन लीलाओ को दृष्टिकूट पदों मे प्रस्तुत कर उनकी गूढता-रहस्यात्मकता वनाये रखने का प्रयत्न किया है।

साहित्य-लहरी का रचना काल उसके पद सख्या १०८ से स्पष्ट होता है—

मुनि पुनि रमन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द कौ लिखि, सुवल सवत पेख॥
नंदनदन पास, वैतें हीन त्रितिया, वार—

नद नदन जनम ते है वान सुख आगार ।।
त्रितिय रिच्छ सुकर्म जोग, विचारि'सूर' नवीन ।
नद नदन दास हित, 'साहित्य लहरी' कीन ।।[1]

इससे साहित्य-लहरी का रचना काल स० १६१७ के वैशाख मास की अक्षय तृतीया, बुधवार, कृतिका नक्षत्र ठहरता है ।

सूरसारावली—सूरसारावली का आरम्भ भी सूरदास ने उसी पद से किया है जिससे सूरसागर का आरम्भ किया है ।[2] सम्पूर्ण रचना द्वैतुकी छन्द मे है और कुल मिलाकर उसमे ११०७ छन्द है ।

सूरसारावली के आरम्भ मे होली खेलने के रूप में ब्रह्म के नित्य विहार की चर्चा कर कवि ने पाँचवे छन्द से सृष्टि-विस्तार के रहस्य को अपने सम्प्रदाय के अनुरूप प्रस्तुत किया है और ब्रह्मा की उत्पत्ति, देव-दानव सग्राम वर्णन व विष्णु के चौबीस अवतारो का वर्णन किया है । इन अवतारो मे कवि ने राम अवतार की कथा को भी विस्तारपूर्वक लिया है । राम कथा १७७ छन्दो मे कवि ने प्रस्तुत की है । कवि ने अन्तिम अवतार भगवान कृष्ण का वनाकर उसका सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया है । कृष्ण के असुर निकन्दन रूप का, वाल लीला का, ऊखल वन्धन आदि का वर्णन किया है । फिर कसवध, उग्रसेन को राजगद्दी देना, गुरुकुल शिक्षा के उपरान्त मथुरा आने कर कृष्ण के मन मे ब्रज की स्मृति जाग उठती है और वे उद्धव को ब्रज भेजते हैं । उद्धव की वापिसी के वाद कवि ने छन्द ५९६ से छन्द ८६७ तक कृष्ण चरित्र के अन्य पहलुओ का वर्णन किया है, जसे जरासध द्वारा मथुरा चढाई, मुचकुद की कथा, पर्वतराह, द्वारका लीला, श्रीकृष्ण के अन्य विवाह, श्रीकृष्ण का गार्हस्थ जीवन, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, अन्य वासुदेव, कुरुक्षेत्र स्नान और ब्रजवासियो से भेट, युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, शिशुपाल वध, दुर्योधन भ्रम,

---

१. साहित्य लहरी, पृष्ठ २०१ ।

२. वदौ श्री हरि-पद सुखदाई ।
जाकी कृपा (तें) पगु गिरि लघै अँधरे कूँ सव कछु दरसाई ।।
वहिरौ सुनै, गुंग पुन वोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
'सूरदास' प्रभु की सरनागत, वारम्वार नमो तेहि पाई ।।
(सूरसारावली, पृष्ठ १)

द्यूत क्रीडा और द्रौपदी का अपमान, श्रीकृष्ण का दूत कार्य, महाभारत युद्ध और भीष्म प्रतिज्ञा, द्वारका की अन्य लीलाएँ, सुदामा लीला, राजा मृग की कथा, वलदेव का व्रज-आगमन, वलदेव की तीर्थ यात्रा, द्वारका की अन्य लीलाएँ, भूमा पर कृपा तथा श्रीकृष्ण द्वारा व्रज-वास की स्मृति नामक प्रसंग आये है। उसके वाद कवि ने छन्द ८६८ से 'राधाकृष्ण का नित्य विहार' के अन्तर्गत कान्हा की नित्य लीलाओ का विस्तारपूर्वक गान किया है। कुछ स्थानो पर दृष्टकूट कथन भी आये हैं।

अन्त मे छन्द १०७७ से कवि ने होलिकोत्सव का शेषाश दिया है जिसके वाद छन्द १०८८ एव १०८९ मे वन विहार एव छन्द १०९० से १०९५ मे कृष्ण चरित्र की परम्परा दी है और छन्द १०९६ से उपसंहार दिया है। उपसंहार मे कवि ने रचना के वारे मे लिखा है—

करम-जोग पुनि ज्ञान-उपासन सव ही भ्रम भरमायौ।
श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला भेद वतायौ ॥ (११०२)
ता दिन तैं हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद वद।
ताकौ मार 'सूर' सारावलि, गावत अति आनन्द ॥ (११०३)

यहाँ ताकौ सार सूरसारावलि को आलोचको ने सूरसागर की अनुक्रमणिका अथवा सार माना है किन्तु कवि कहना चाहता है कि उसने जो हरिलीला महाप्रभु वल्लभाचार्य के तत्वदर्शन के उपरान्त गाई है, इस रचना मे भी उसी लीला का सार रूप मे वर्णन है। सूरसागर एक विशाल सागर है जिसमे सूरदास ने विस्तारपूर्वक हरिलीला का गान किया है किन्तु सारावली मे सार रूप मे हरिलीला का गान है जिसमें कवि के वे ही भाव अपना अनूठापन लिये हुए भक्तों का मन मोहित करते है।

कवि ने रचना के रचना-काल के विषय मे इसे अपनी ६७ वर्ष की आयु की रचना वताया है—

गुरु-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठ वरस प्रवीन।
सिव विधान तप करेऊ वहुत दिन, तऊ पार नही लीन ॥[2] (१००२)

उपरोक्त छन्द का एक आशय और भी हमारे विचार मे आता है कि

---

१. सूरसारावली, पृष्ठ ८७।
२. सूरसारावली, पृष्ठ ८०।

कही यह कवि की स्वीकारोक्ति हो कि उसे गुरु के प्रसाद से भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन ६७ वर्ष की आयु मे हुए है और उससे पूर्व उन्होने अपने जीवन का दीर्घ काल शिवोपसना मे व्यतीत किया, पर वे उसका पार नही पा सके। कवि के आरम्भिक जीवन, जब वे गऊ घाट पर निवास करते थे, उनके जप-तप आराधना का उल्लेख उनके विनय के पदो मे मिलता है। डॉ० मुन्शीराम शर्मा लिखते हैं—"आचार्य वल्लभ से ब्रह्म सम्बन्ध होने से पूर्व सूरदास शैव साधना के अनुकूल आसन, प्राणायाम आदि का अवश्य अभ्यास करते रहे होगे। उनके कई पदो मे इनकी ओर सकेत है।"[1] अत. उपरोक्त पद को भी अन्तः साक्ष्य के रूप मे कवि पर आरम्भिक प्रभाव एव भक्ति मार्ग मे आने के पश्चात् उनका आत्म तृप्ति का उल्लेख के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है।

---

१. भक्ति का विकास . डॉ० मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ ६२१।

तृतीय खण्ड

काव्यानुशीलन

पंचम अध्याय

दार्शनिक पृष्ठभूमि

सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा मे आते है। वल्लभाचार्यजी ने जिस मत का प्रचार किया वह पुष्टि मार्ग कहलाता है। इस मत को शुद्धाद्वैतवादी सिद्धान्त के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। सूर के दार्शनिक विचारों का परिचय पाने के लिए पुष्टि मार्ग को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है। वल्लभाचार्यजी ने विष्णु स्वामी द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्त शुद्धाद्वैत को अपनाया, अतः हम शुद्धाद्वैत को वल्लभाचार्यजी का मौलिक सिद्धान्त नही कह सकते। वल्लभाचार्यजी से पूर्व व्रज मे विक्रम की १२ वी शताब्दी मे निम्बार्काचार्यजी द्वैताद्वैत सिद्धान्त के आधार पर कृष्णभक्ति का प्रचार आरम्भ हुआ था। इन्ही निम्बार्काचार्य की शिष्य पराम्परा मे सखी या टट्टी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गायनाचार्य स्वामी हरिदास का नाम लिया जाता है। माध्वाचार्यजी द्वारा भी व्रज मे कृष्ण भक्ति भावना का यथेष्ट प्रचार हुआ जिनके अनुयायी गोस्वामी हितहरिवंश ने राधावल्लभजी सम्प्रदाय की स्थापना की। सूरदास पर गोस्वामी हरिदास एव हित हरिवश का प्रभाव दिखाई देता है।[1]

महाप्रभु वल्लभाचार्य के समय तक व्रज कृष्ण भक्ति का केन्द्र बन चुका था और यह भी सम्भव है कि वे भी अपने पूर्व आचार्यो के दार्शनिक सिद्धान्तो से प्रभावित हुए हों, फिर भी इतना स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि वल्लभाचार्यजी नें ही भक्ति को पुष्ट दार्शनिक आधार देकर सुसगठित एवं व्यवस्थित रूप दिया। उन्होने साम्प्रदायिक भक्ति की सेवा-पद्धति को भी पुष्टि सम्प्रदाय में सुसंगठित, व्यवस्थित एव परिपूर्ण रूप

---

१. रास के वर्णन मे एक स्थान पर कवि ने "हरिवसी, हरिदासी जहाँ, हरिकृपा करि राखहु तहाँ ॥" कह कर हितहरिवंश और हरिदास की ओर संकेत किया है। (सूरदास : व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ २४।)

दिया। इस स्वरूप को आचार्य वल्लभजी के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने और भी दृढ एव सुनिश्चित वना दिया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है, "पुष्टि मार्ग भगवान के एक अनुग्रह मे ही साध्य है।"[१] अत. भक्त की ओर से चेष्टा करने से ही सव कुछ नही हो जाता। इसके लिए इष्ट देव की अनुकम्पा चाहिए। सुरदास भी इसी अनुग्रह के आकाक्षी रहे है और पुष्टि मार्ग का निर्वाह भी इसी अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। सूरदास ने अपने विनय के पदो मे भगवान की इस अनुकम्पा व भक्तवत्सलता का ही गान किया है। इस अनुकम्पा-अनुग्रह मे विश्वास के अभाव मे भक्ति सम्भव नही। अत सूरदास भगवान से साफ-साफ यही माँग करते है—

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहि मै रुचि आन॥

पुष्टि मार्ग के वल्लभाचार्यजी ने चार भेद वताये हैं—

(१) प्रवाह पुष्टि, (२) मर्यादा पुष्टि, (३) पुष्टि पुष्टि एवं (४) शुद्ध पुष्टि।

१. प्रवाह पुष्टि—पुष्टि प्रवाह मे वे जीव (भक्त) गिने जायेंगे जो भगवान के अनुग्रह का कुछ आश्रय लेकर प्रवाह मार्ग मे चलते है याने ससार से अपना सम्वन्ध वनाये रखते है। महाप्रभु ने प्रवाह मार्ग को प्रवृत्तिकारक साधनो के सम्पादन का मार्ग कहा है जिसमे उलझा हुआ जीव सासारिक यातना से मुक्ति नही पा सकता। वह संसार के चक्र के साथ भटकता ही रहता है।

२. मर्यादा पुष्टि—जो भक्त भगवान के अनुग्रह का आश्रय लेकर अपनी मर्यादाओ को जानते हुए, अपने को-सासारिकता से अलग करने का प्रयत्न करता जीवन-यापन करता है, जो वेद शास्त्रो के वताये गये कर्तव्य मार्ग का पालन करता है, वह मर्यादा पुष्ट भक्त कहलाता है।

३ पुष्टि पुष्टि—जो भक्त केवल भगवान के अनुग्रह का अवलम्व लेकर जीते हैं जिन्हे भगवान के अनुग्रह के अतिरिक्त ससार की किसी वस्तु

---

१. 'पुष्टि मार्गोऽनुग्रहैकसाध्य'
(अणु भाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ९ की टीका।)

की इच्छा नही रह जाती और जो अनुग्रह प्राप्त कर भी अपनी साधना बनाये रखते है उन्हे पुष्टि पुष्ट भक्त कहा जाता है।

४. शुद्ध पुष्टि—जो भक्त भगवान के अनुग्रह से प्राप्त प्रेम से शुद्ध हो गये है, वे शुद्ध भक्त हैं, ये भक्त पूर्णतया भगवान पर अपने को आश्रित मानते है। अनुग्रह प्राप्त होने पर भक्त के हृदय मे भगवान के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओ से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। ऐसे भक्तो को शुद्ध पुष्ट-भक्त कहा जाता है।

परब्रह्म—वल्लभाचार्यजी के मतानुसार ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है। वह व्यापक, नाश रहित एव सर्वशक्तिमान है। वह अपने पूर्ण रूप से जड़ एव चेतना सृष्टि मे तथा अपने शुद्ध स्वरूप मे समाया हुआ है। वह अविभक्त होते हुए भी इच्छा मात्र से विभक्त होने वाला भी है। उसका पूर्ण रूप 'सच्चिदानन्द' अथवा 'सदानन्द' है जिसे कृष्ण भी कहा गया है। वेदान्त के ब्रह्म को व भगवान को ही शुद्धाद्वैत के अन्तर्गत परब्रह्म कृष्ण कहा गया है। परब्रह्म अपनी आत्ममाया मे सदा आवृत्त रहते है, अत· उनको श्रीकृष्ण कहते है।

'पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम' में वल्लभाचार्यजी ने ब्रह्म के स्वरूप बोधक अनेक नामो का वर्णन किया है। ईश्वर, जीव एव जगत् के विषय मे वल्लभाचार्यजी का मत अद्वैतवादी ही है। उनके विचार से जगत के समस्त पदार्थ एव जीव श्रीकृष्ण की इच्छा का विस्तार है अथवा उसकी इच्छा का रूप हैं, अतः वे उनसे अभिन्न हैं। यहाँ शकर के अद्वैतवाद एवं वल्लभाचार्य के अद्वैतवाद मे अन्तर है। शकर मत के अनुसार एक ब्रह्म ही सत्य और बाकी कल्पना मात्र है। वल्लभाचार्यजी ने जगत् एव जीव को ईश्वर के अश मान कर सत्य माना है। वे जगत् मिथ्या की बात नहीं कहते, अगर जगत् मिथ्या माना जाय तो जगत् जो जगदीश्वर का ही रूप है, जगदीश्वर को भी मिथ्या घोषित कराने मे सहायक होगा। वल्लभाचार्यजी के अनुसार जड जगत् मे सत् धर्म प्रकट है और चित् तथा आनन्द तिरोभूत है और जीव मे सत् एवं चित् प्रकट हैं और आनन्द तत्व तिरोभूत रहता है। उसी ब्रह्म का आनन्द स्वरूप आत्मा के रूप मे प्रत्येक पदार्थ एव जीव मे स्थित है जिसे साधना से जाना जा सकता है। वल्लभाचार्यजी ने श्रीकृष्ण को पूर्ण आनन्द स्वरूप सर्व गुण सम्पन्न शुद्ध ब्रह्म माना है। जब माया का आवरण हट जाता है

और आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञा। हो जाता है, उस समय ज्ञाता और ज्ञेय दोनो एक हो जाते है। अतः हम कह सकते है कि शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई भी स्वतन्त्र और सत्य वस्तु नही है। दृष्टिगोचर की भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम और माया की उपाधि से होने वाला आभास है।

सूरदास के इष्टदेव पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है जो प्रकृतिजन्य धर्मो के अभाव मे निर्गुण भी कहलाता है, किन्तु जो भक्तो पर अनुग्रह करने के हेतु अपने पूर्ण आनन्द स्वरूप मे सगुण साकार रूप धारण कर नाना लीलाओं के द्वारा भक्तो को अपने रूप का परिचय देकर भक्त को सदा सर्वदा के लिए अपनी छवि पर विमोहित कर लेते है। वे ब्रह्म ही अश और अशी रूप मे जीव एव जगत् का निर्माण लीला के लिए करते हैं और अपनी आदि रस-शक्ति राधा के साथ युगल रूप मे विहार करते है—

सोभा अमित अपार अखडित आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम ॥ (९९२)
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ॐकार आदि वेद असुरहन निर्गुन सगुन अपार ॥ (९९३)[1]

× × × × ×

सदा एक रस, एक अखडित, आदि अनादि, अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत जुगल सरूप ॥ (१०९९)

× × × × ×

सकल तत्व ब्रह्माड देव, पुन माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष, श्रीपतिनारायण, सबहिं अस गोपाल ॥ (११०१)[2]

सूरसागर मे भी ऐसे पदो का अभाव नही जहाँ सूरदास ने भगवान् श्रीकृष्ण के निर्गुण सगुणत्व का उल्लेख किया है—

करनी कृपा सिन्धु की कछु कहत न आवै।
कपट हेतु परसै बकी जननी गति पावै ॥

---

१. सूरसारावली, पृष्ठ ७९।
२. वही, पृष्ठ ८७।

वेद उपनिषद जस कहै, 'निर्गुण' ही बतावै ।
सोई 'सगुण' होय नद के दाँवरी बँधावै ॥[1]

× × ×

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै ॥
परमस्वाद सबही जू निरंतर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै ॥
रूप, रेख, गुन, जाति, जुगति बिनु, निरालंब मन चकृत धावै ।
'सब' विधि अगम विचारहिं ताते, 'सूर' सगुण लीलापद गावै ॥[2]

सूर ब्रह्मा-विष्णु-महेश मे कोई अन्तर नही मानते—

विष्णु रुद्र विधि एकहि रूप, इन्हे जान मत भिन्न स्वरूप ।[3]

तथा—

यज्ञ प्रभु प्रकट दिखायो ।
विष्णु विधि रुद्र मम रूप ए तीनिहू दक्षसो, वचन यह कहि सुनायो ॥[4]

सूर ने परमानन्द राशि-रस-रूप श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म मान कर उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया है—

परम हंस तुम सब के ईस, वचन तुम्हारे स्तुति जगदीस ।
तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानन्द सदासुख रासी ।
तुम तन धारि हर्‌यो भव-भार, नमो नमो तुम्हे बारम्बार ।[5]

उसी पूर्ण ब्रह्म को प्रकृति एव जीव से अभिन्न बनाते हुए सूर कहते हैं—

ब्रजहि बसै आपुहि बिसरायो ।
प्रकृति पुरुष 'एक' करि जानहु बातनि भेद करायौ ।

---

१ सूरसागर, प्रथम स्कन्ध ।
२. सूरसागर, पद २ ।
३. सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध ।
४. वही, चतुर्थ स्कन्ध ।
५. वही, दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध

द्वैत न जीव एक हम तुम, दोऊ सुख कारन उपजायौ ।।[1]

सूर ने श्रीकृष्ण को कर्ता-हर्ता एव शाश्वत बताया है—

पिता-माता इनके नहिं कोई ।

आपुहिं करता, आपुहिं हरता, निरगुण गये ते रहत है जोई ।।

जीव—अपने एकाकीपन से ऊव कर ब्रह्म ने अपने से जीव एव जगत का निर्माण किया। उसके मन मे आया कि "मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ ।"[2] और वह एक से अनेक हो गया। वल्लभ सम्प्रदाय ने जीव एवं ब्रह्म को अंश और अशी रूप मे स्वीकार किया है। ईश्वर के सत् चित् आनन्द स्वरूप एवं जड चेतन सृष्टि मे उसके समावेश पर ब्रह्म की व्याख्या के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। जीव मे आनन्द तत्व के तिरोभूत होते ही भगवान् के छै गुणो (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) का भी लोप हो जाता है। उपरोक्त गुणो के तिरोभाव से जीव सासारिक मोह मे ग्रस्त हो जाता है, अज्ञान मे उलझ जाता है और जीवन-मरण के चक्र मे आवद्ध हो जाता है। जीव भ्रम मे पडकर ससार के चक्र मे भटकता फिरता है।

अविद्या को दूर करने के लिए वल्लभ सम्प्रदाय ने भगवान् के भजन की आवश्यकता पर जोर दिया है। भगवद् भजन से अविद्या दूर होते ही जीव अपने रूप का ज्ञान पाकर आनन्दानुभूति करता है और उसमे तिरोभूत गुण प्रकट होने लगते है और वह सांसारिकता से उठकर मुक्ति का अधिकारी वनकर मुक्त आत्मा कहलाता है। पर इसके लिए ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता है, क्योकि उसके अनुग्रह विना उसके चरणो मे भक्ति हो ही नही सकती। सूरदास भी भगवान से अपनी अविद्या दूर करने की प्रार्थना करते है—

सूरदास की सवै अविद्या दूर करो नंदनद ।[3]

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार जीव सृष्टि दो प्रकार की है—दैवी जीव सृष्टि और आसुरी जीव सृष्टि। दैवी जीव सृष्टि को वल्लभाचार्य ने शुद्ध पुष्ट भक्त, पुष्टि पुष्ट भक्त, मर्यादा पुष्ट भक्त एव प्रवाह पुष्ट भक्त

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २६ ।

२. एकोऽहं वहुस्याम्, तैत्तिरीय उपनिषद, २ : ६ ।

३ सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद ९३ ।

चार भेदो मे विभाजित किया है, जिनका उल्लेख पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तो के अन्तर्गत हुआ है। शुद्ध पुष्ट जीव जीवन मुक्त कहलाता है और उसके सम्मुख हरिलीलाओ का द्वार खुल जाता है। सूरदास ने भी इस ओर संकेत किया है—

यह महिमा आई पै जानै कवि सों कहा बरनि यह जाई।
सूरश्याम रस रास रीति मुख विन देखे आवै क्यो गाई॥

× × ×

रास रस रीति वरनि नहि आवै।
कृपा विनु न हिया रसहिं पावै॥

जीव एवं ब्रह्म की एकरूपता के विषय मे सूरदास कहते है—

सकल तत्व ब्रह्माड देव पुनि माया सव विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सव हैं अंश गुपाल॥[1]

'एकोऽह वहुस्याम्' की भावना को सूरदास के शब्दो मे सुनिए—

पहिले हौ ही हौं तव एक।
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनिविधि विमल विवेक॥
सो हो एक अनेक भाँति करि शोभित नाना भेष।
ता पाछे इन गुननि गाए ते हो रहि हो अवशेष॥[2]

उपरोक्त पद से यह भी भाषित होता है कि वह अपनी इच्छा को समेट कर समस्त सृष्टि को पुन· आत्मलीन कर लेता है और वह ही वह रह जाता है।

इस ससार मे आकर जीव अपने स्वरूप का ज्ञान भुला वैठता है—

अपुनपौ आपुन ही विसर्यो।[3]

और फिर जव तक सत् स्वरूप का आभास नही होता, जीव भटकता ही रहता है—

जव लौ सत स्वरूप नहि सूझत।
तौ लौ मृग मद नाभि विसारे फिरत सकल वन वूझत॥[4]

---

१. सूरसारावली, पृष्ठ ८७।
२. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, ३८१।
३ सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, ३६९।
४ वही, द्वितीय स्कन्ध।

और जब सतगुरु भेद बताता है तो वह शब्द अज्ञान के अन्धकार को नष्टकर उसके जीवन को उजाले मे परिवर्तित कर देता है—

अपुनपौ आपुन ही मे पायो ।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो, सतगुर भेद बतायो ।।[१]

और जब जीव गुरु की महिमा से उसके रूप का आभास पा लेता है, तब उसकी अवस्था गूँगे के गुड की होती है—

सूरदास समझे की यह गति मन ही मन मुसकायौ ।
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यो गूँगे गुरु खायौ ।।[२]

और फिर तो वही रूप विश्व के कणकण मे व्याप्त जाता है—

नैननि निरखि स्याम स्वरूप ।
रह्यो घट घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप ।।[३]

जगत्—वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार अक्षरब्रह्म परब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप है, इसलिए यह परब्रह्म पुरुपोत्तम से भिन्न नही है। अक्षरब्रह्म के ही सत् धर्म से जगत, चित्त से जीव और आनन्द से अन्तर्यामी का अविर्भाव होता है। जगत् परब्रह्म का भौतिक स्वरूप है। ब्रह्म ही अपने सत्धर्म से २८ तत्व होकर इस जगत स्वरूप हुए है। अतः समस्त जगत् ब्रह्म स्वरूप है। वल्लभ सम्प्रदाय मे जगत् एवं संसार को भिन्न माना गया है। जगत् मिथ्या नही है क्योकि वह जगदीश्वर का रूप है और ससार जो जीव-विनिर्मित है मिथ्या है क्योकि इस कारण से ही जीव मायापाश मे आवद्ध होकर "मैं" और "मेरेपन" के भ्रम मे भटकता फिरता है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार प्रलय मे भी जगत् का तिरोभाव होता है, नाश नही। सूरदास ने सूरसारावली मे होली खेल के रूप मे "ब्रह्म नित्य विहार" तथा "सृष्टि विस्तार" के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक इस पर प्रकाश डाला है—

---

१. वही, चतुर्थ स्कन्ध ४०७।
२. वही, चतुर्थ स्कन्ध।
३. वही, द्वितीय स्कन्ध, ३७०। उर्दू कवि के पद से तुलना कीजिए—

हर मूरत मे नजर आती है सूरत उसकी,
जिसे हमने मन मे आँखो मे समा रखा है ।

अविगत, आदि, अनंत, अनूपम, अलख, पुरुष अविनासी ।
पूरण ब्रह्म, प्रगट पुरुषोत्तम, नित निज लोक विलासी ॥
जहाँ वृंदावन आदि अजर, जहाँ कुंजलता विस्तार ।
तहाँ विहरन प्रिया-प्रीनम दोऊ, निगम भृंग गुंजार ॥[1]

× × × ×

खेलत–खेलत चित मे आई, सृष्टिकरन विस्तार ।
अपने आप करि प्रगट कियौ है, हरी पुरुष अवतार ॥
माया कियौ छोभ वह विधि कर, काल पुरुष के अंग ।
राजस तामस-सात्विक त्रिगुन, प्रकृति पुरुष कौ संग ॥
कीन्हे तत्व प्रगट तेही छिन, सवै अष्ट अरु वीस ।
तिनके नाम कहत कवि सूरज, निर्गुण सवके ईस ॥[2]

माया—वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार माया के दो रूप माने गये हैं—विद्या माया और अविद्या माया । यह दो रूप धारिणी माया ही इस सृष्टि (जगत्) एवं संसार के प्रसार का कारण है । जीव माया के आधीन है, भगवान मायाधीन नही । अविद्या माया से जीव संसार मे आवद्ध हो जाता है और विद्या माया का अवलम्व पाकर वह सासारिक वन्धनो को तोडकर अलग हो जाता है ।

अविद्या माया का जीव पर दोहरा प्रभाव पडता है । एक ओर वह जीव की विद्या माया को सत्य ज्ञान को आच्छादित कर देती है और दूसरी ओर जीव को असत्य की ओर अग्रसर करती है और उसमे अहंभाव को उत्पन्न कर उसमे भ्रम के द्वारा दूसरों से भिन्नत्व की भावना को उदय करती है । इस अविद्या माया का प्रभाव जीव से तव तक नही हटता, जव तक उस पर ईश्वर का अनुग्रह नही होता, जिसके आधीन माया है । सूरदास भी कहते हैं—"सो हरि माया जा वश माँहि ।"

इस माया द्वारा ब्रह्म को सृष्टि करने की क्या आवश्यकता थी ?

---

१. सूरसारावली, पृष्ट
२ वही, पृष्ठ २ ।

अगर सृष्टि करनी ही थी तो जीव को अविद्या माया मे उलझाने की क्या आवश्यकता थी ? वल्लभ सम्प्रदाय के मतानुसार ब्रह्म केवल अपने खेल के लिए ही इस सृष्टि को उत्पन्न करता है किन्तु इस ब्रह्म इच्छा का विश्लेषण सम्भव नही। सूरदास मे भी यह भाव दृष्टिगत होता है—

अविगत गति जानी न परै।
मन वच अगम अगाध अगोचर केहि विधि बुधि सचरे ।[1]

सूरदास भी अपनी अविद्या दूर करने की प्रार्थना भगवान से करते है—

सूरदास की सबै अविद्या दूर करो नंदनंद ।[2]

जगत् मे जन्म लेते ही जीव मे आनन्द तत्व के अभाव के कारण ईश्वरीय छः गुणो का भी तिरोभाव हो जाता है और वह अपनेपन को भूल जाता है—

व्रजहिं वसै आपुहिं विसरायो ।[3]

किन्तु जैसे ही उसे सत्य का आभास मिलता है वह समझता है और राधा से कहता है—

प्रकृति पुरुष ऐकै करि जानहु वातनि भेद करायो।
द्वै तन जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारण उपजायो ॥[4]

और श्रीकृष्ण के इन वचनो को सुनकर राधा निजस्वरूप का ज्ञान पाकर आनन्द-विभोर हो उठती है । जीवात्मा, ब्रह्म के अनुग्रह से विद्या माया के जाग्रत होने पर निज स्वरूप को जानकर आनन्द तत्व को प्राप्त करती है—

तव नागरि मन हर्ष भई ।
नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनद भई ।
प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूल गई ॥[5]

सूरदास ने अविद्या माया को एव माया जनित ससार को मिथ्या एवं भ्रामक बताया है—

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १०५ ।
२. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद ६३ ।
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २६ ।
४ वही.।
५. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २७ ।

मिथ्या यह ससार और मिथ्या यह माया ।
मिथ्या है यह देह कहो क्यो हरि विसराया ॥[1]

और यह अविद्या माया की विलक्षणता ही है कि झूठ होते हुए भी सत्य भासती है और व्यक्ति, व्यक्ति एव समष्टि मे भेद अनुभव करने लगता है—

झूठी है साँची सी लागति, मम माया सो जानि ।
रवि शशि राहु संयोग बिना ज्यो लीजत है मन मानि ॥

× × × × × ×

पहले ज्ञान विज्ञान द्वितीया पद तृतीय भक्ति को भाव ।
सूरदास सोई समष्टि करि व्यष्टि दृष्टि मन लाभ ॥[2]

मोक्ष—वल्लभाचार्यजी ने शुद्ध पुष्ट भक्त को जीवन मुक्त ही माना है जो ईश्वर की अनुकम्पा से आनद तत्व मे लीन होकर ससार दु.ख (माया जनित संसार दु ख से मुक्त) हो जाता है । अहंकार से मुक्त जीव का अविद्या जनित संसार तो छूट जाता है पर उसकी देह का लय नही होता । पुष्टि मार्ग की भावना से जीव सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एव सायुज्य मुक्ति की अपेक्षा गोलोक मे भगवान की नित्य-गोलोक लीला मे आनन्द लाभ करना चाहता है । उनकी दृष्टि मे मुक्ति के चार रूप मात्र सयोग के है और उनमे लीला का महत्व कही अधिक है ।

वल्लभ सम्प्रदाय ने भक्ति को प्रश्रय दिया है और भक्त मुक्ति की अपेक्षा जीवन एव जीवन मे हरिलीला गान का अवसर अधिक पसन्द करता है । शुद्ध पुष्ट भक्त के समक्ष तो भगवान् के अनुग्रह से नित्य लीला के द्वारा उन्मुक्त हो जाते है और वह उसी आनन्द रस मे लीन हो जाता है । सूरदास को सुनिए—

जो सुख होत गुपालहिं गाये ।
सो नहिं होत जप तप कीने कोटिक तीरथ न्हाये ॥
दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण कमल चित लाये ॥

---

१ सूरसागर, दशम स्कन्ध ।
२. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध ।

तीन लोक तृण करि सम लेखत, नद नदन उर आये ॥
बशीवट वृन्दावन यमुना तजि वैकुठ को जाये ॥
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये ॥[1]

सहज भाव से हरि की भक्ति सुखदायक है—

सहज भजै नद लाल को सो सब शुचि पावै ।
सूरदास हरि नाम लिये दुख निकट न आवै ॥[2]

और इस प्रकार भक्ति भाव मे भक्त भगवान का अनुग्रह पाकर आत्म नत्व मे लीन हो जाता है और मन ही मन मुस्करा उठता है—

आपुन पौ आपुन मे पायो ।

× × × ×

सूरदास समुझे की यह गति मन ही मन मुसिकायो ।
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यो गूँगे गुरु खायो ॥[3]

अत. सूरदास अपने मन रूपी सुवे को कृष्ण के नामामृत से प्लावित वन मे ले जाना चाहते है—

सुवा चलि वा वन को रस पीजै ।
जा वन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि पीजै ॥[4]

वे तो अपने मन की चकवी को कृष्ण के चरण सरोवर मे ले जाना चाहते है जहाँ वियोग की सम्भावना ही नही—

चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम निशा होत नहिं कबहूँ, वह सायर सुख जोग ॥
जहाँ सनक से मीन हस शिव मुनि जन नख रवि प्रभा प्रकाश ।
प्रफुलित कमल निमिप नहिं शशि डर, गु जन निगम सुवास ॥

---

१. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, ३४६ ।
२. वही, द्वितीय स्कन्ध ।
३. वही, चतुर्थ स्कन्ध, ४०७ ।
४. वही, प्रथम स्कन्ध, ३४० ।

जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता फल सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुवुद्धि विहगम इहाँ कहा रहि कीजै॥
लक्ष्मी सहित होत नित क्रीड़ा शोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस॥[1]

---

१ सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३३७।

षष्ठम अध्याय

भाव पक्ष

काव्य के दो पक्ष माने गये हैं—भाव पक्ष एव कला पक्ष। कविता मनोगत भावनाओ का उफान है जो कि मन मे समाने मे असमर्थ होकर वाणी का माध्यम लेकर फूट निकलती है।[1] कवि के विधुर उर की वेदनाओं का क्रन्दन ही कविता है —

उर क्रन्दन करता था मेरा पर मुख से मैंने गान किया।
मैंने पीडा को रूप दिया जग समझा मैंने कविता की। (बच्चन)

कविता मे कला पक्ष का भी अपना महत्व अवश्य है किन्तु कला भावों को सजाने एव सँवारने का काम करती है। भाव अगर आत्मा है तो कला उसका कोमल कमनीय कलेवर। दोनो एक दूसरे के पूरक है। कला के अभाव मे भी कविता हो सकती है किन्तु भावो के अभाव मे कविता की केवल कल्पना ही रह जाती है।

साहित्य (काव्य) का उद्देश्य आनन्दानुभूति है। वह अपने रचयिता को आनन्दानुभव कराने के उपरान्त ही पाठको के आनन्द का माध्यम बनता है। साहित्य-सर्जना के पीछे एक असीम पीडा का साम्राज्य होता है और पीडा मे पुकारने की प्रेरणा होती है, अत अभावो मे भाव भरा कवि का मन गुनगुना उठता है। इन अभावो को भाव जगत के माध्यम से पाकर कवि आनन्दानुभव करता है और भाव साम्य की स्थिति मे वही रचना पाठक का भी मनोरजन करती है।

---

१ "Poetry is spontaneous outburst of emotional feelings recollected in tranquility" (Wordsworth)
तथा—"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड कर आँखो से चुपचाप वही होगी कविता अनजान।"
—(सुमित्रा नन्दन पत)

सूर की काव्य साधना का मूल स्वर भक्ति भावना रहा है। उनकी समस्त रचना में भक्ति रस प्लावित हो उठा है। उन्होने अपने आराध्य देव भगवान श्री कृष्ण से अनेक प्रकारों से सम्बन्ध जोड़ा है। कभी उन्होने भगवान के समक्ष अपनी दीनता का वखान कर उनका अनुग्रह पाने की अभिलाषा की है, कहीं उन्होने आत्मप्रताडना के द्वारा मन की शुद्धि का परिचय दिया है। कही उन्होने कान्हा को गोप वालको, सुदामा एव अर्जुन की आँखो से सखा भाव से देखकर नि.स्वार्थ प्रेम का परिचय दिया है, कही उन्होने अपने को नन्द-यशोदा में विलीनकर कान्हा के प्रति अपने वात्सल्य भाव का परिचय दिया है। कही उन्होने गोपियों के रूप मे कान्हा को परकीया के रूप में प्राप्त करने की अपनी तीव्राभिलाषा का परिचय दिया है तो कभी स्वकीया भाव से उसका भजन किया है। कही सूर ने अपने को राधा के रूप मे विलीन कर कान्हा के संयोग एव वियोग में उसके आनन्द का अनुभव किया है और उसी के रस-रग मे अपने को पूर्णतया विसर्जित कर दिया है।

सूर की भक्ति का प्रधान पहलू उसके कान्ता भाव की भक्ति अथवा मधुरा भाव की भक्ति एव राधा भाव की भक्ति रहा है। 'सूर की भक्ति भावना' शीर्षक के अन्तर्गत इस भाव धारा को व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय

भक्ति भावना

सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य होने के नाते पुष्टि मार्ग के अनुयायी रहे है। उनकी रचना मे पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों व शुद्धाद्वैतवादी सिद्धान्तो का परिचय 'सूर काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' शीर्षक वाले अध्याय के अन्तर्गत दिया गया है। शुद्ध पुष्ट भक्त को भगवान का पूर्व अनुग्रह प्राप्त हो जाता है और वह पूर्णतया भगवान पर आश्रित हो जाता है। भगवान के अनुग्रह से भक्त के हृदय मे भगवान के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओ से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। सूरदास ऐसे ही भक्त थे और उन्होने भगवान कृष्ण की लीलाओ से तादात्म्य स्थापित कर उनका जो चित्रण किया है, वह अद्वितीय है। उनका कृष्ण वास्तव मे लीला पुरुषोत्तम कृष्ण है जो लीला के लिए लीला करता है और उसकी लीला का लक्ष्य भी लीला है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"लीला भारतीय भक्तों की सबसे ऊँची कल्पना है। ××× केवल भगवत्साक्षात्कार बड़ी बात नही है, लीला बडी बात है भगवान का प्रेम। भगवान के प्रति परम प्रेम एकान्त प्रेम की भक्ति उसी प्रेम का प्रपंच है।"[1]

इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए आचार्य द्विवेदीजी ने महाप्रभु चैतन्यदेव और भक्त राय रामानद का संवाद प्रस्तुत किया है। मैं उस संवाद को यथारूप नीचे उद्धृत कर रहा हूँ जिससे भक्ति की महानता का पूरा-पूरा परिचय मिल सकेगा।

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'लीला और भक्ति' शीर्षक लेख, पृष्ठ १४०।

"महाप्रभु ने राय रामानद से पूछा—'तुम भक्ति किसे कहते हो ?' राय रामानद ने जरा सोचकर उत्तर दिया—स्वधर्माचरण ही भक्ति है।

—लेकिन यह भी वाह्य है, और भीतर की वात कहो।

—श्रीकृष्ण को समस्त कर्मो का अर्पण कर देना ही भक्ति है।

—लेकिन यह भी ऊपरी वात है, और आगे कहो।

—सर्वधर्म-परित्याग-पूर्वक भगवान् की शरण मे जाना ही भक्ति है।

—यह भी वाह्य है, और आगे की कहो।

—भगवान के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।

—ठीक है, पर यह भी स्थूल है, और आगे की कहो।

—दास्य प्रेम ही भक्ति है।

—ठीक है, पर यह भी स्थूल है, आगे की कहो।

—सख्य प्रेम ही भक्ति है।

—ठीक है, पर और आगे की वात कहो।

—कान्ता भाव का प्रेम ही भक्ति है।

—वहुत उत्तम, लेकिन और भी आगे की कहो।

—राधा भाव का प्रेम ही परम भक्ति है।

—हाँ राधा भाव ही श्रेष्ठ है, परन्तु प्रमाण क्या है ?

× × × × × ×

राय रामानंद ने इसके उत्तर मे गीतगोविंद का मत उद्धृत किया है जिसमे वताया गया है कि "भगवान श्रीकृष्ण ने राधा को हृदय मे धारण करके अन्यान्य व्रज सुन्दरियो को त्याग दिया था। सो यह श्लोक इस वात का प्रमाण है कि कान्ताभाव मे भी राधाभाव ही सवसे श्रेष्ठ है।"[1]

ऊपर के महाप्रभु चैतन्यदेव एवं भक्त राय रामानद के सम्वाद मे राय रामानंद ने पहले भक्ति को गीता के एव भागवत पुराण के आधार पर समझाया था किन्तु अन्तिम वात जो उन्होने कही थी वह एक भक्त के हृदय की मौलिकता थी। भागवत मे रासलीला शरत् पूर्णिमा को हुई वतायी गई है किन्तु गीत गोविंदकार ने वसन्त काल मे रास लीला की परम्परा स्थापित

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना : 'लीला और भक्ति' शीर्षक लेख, पृष्ठ १४१-४३।

की। उनके परवर्ती भक्त कवियो—सूरदास एव उनके परवर्ती कवियो ने दोनो परम्पराओ को एक-दूसरे मे गूँथ दिया है।

पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तो के अनुरूप भगवान ने लीला के लिए जब अश एव अशी रूप मे सृष्टि का निर्माण किया तब उन्होने अपने को भी द्विधाविभक्त किया। इसमे से एक ओर नारायण हुए और दूसरी ओर उनकी शक्ति लक्ष्मी।[१] भगवान लक्ष्मी के विभक्त होते ही अपने मे किसी अभाव को अनुभव करने लगे और लक्ष्मी भी अपने को भगवान को समर्पण करके अपने अस्तित्व को सार्थक समझती है कि भगवान ने उसके द्वारा अपने एकान्त भाव को दूर करने एव अभावो को परितृप्त करने के लिए ही उसे अपने से विभक्त किया था। भक्ति मे भी यही आत्म-समर्पण का भाव सर्व प्रधान लक्षण है।

साधरणतया भी हम मानते है कि स्वतत्वानुभूति के लिए एक ओर जहाँ आत्मतत्व के विकास द्वारा जीव अपने को ऊपर उठाता हुआ, उसकी सीमाओ का स्पर्श कर सकता है, कर लेता है और वह ही वह रह जाता है तो दूसरी ओर वह अपने आत्मतत्व को, अपने अहं को इदम् में विलीन करके आनन्दानुभूति द्वारा उसी सत्य का अनुभव करता है। पहला मार्ग ज्ञान का है, दूसरा भक्ति का। इसी से भक्त कवियो ने आत्मसमर्पण की भावना को हर रूप मे अपनाया है—सेवक मे स्वामी के लिए, माता-पिता मे सन्तान के लिए, मित्र मे मित्र के लिए। कान्त के लिए कान्ता में आत्मसमर्पण की भावना चिर सीमा तक पहुँचती है। यही कारण है कि भक्त कान्ता भाव के भजन को इतना श्रेष्ठ समझता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे—"वैष्णव भक्तो ने इस (कान्ता भाव) सम्वन्ध को इतने सरस ढंग से व्यक्त किया है कि भारतीय साहित्य अनन्य साधारण अलौकिक रस का समुद्र वन गया है।"[२]

---

१. विष्णु पुराण के अनुरूप विष्णु दो रूपो मे विभक्त वताये गये है और शिव पुराण मे भगवान शंकर के अर्द्ध नारीश्वर रूप की कल्पना की गयी है और फिर उनका शिव और शक्ति के दो स्रोतो मे विभक्त हो जाने की गाथा है।

२. मध्यकालीन धर्म साधना—'लीला और भक्ति' शीर्षक लेख, पृष्ठ १४३।

सूर की भक्ति-भावना मे हमे क्रमशः स्वामी-सेवक भाव की भक्ति (सूरदास के विनय के पद), वात्सल्य रस की भक्ति, सखा भाव की भक्ति, कान्ता भाव की भक्ति एव राधा भाव की भक्ति के दर्शन होते हैं। सूर ने भक्ति के समस्त अंगों को अपनाकर उन्हें वन्दनीय बना दिया है। आत्मतृप्ति सूर का साध्य थी, कोरी कविता नही; जहाँ-जहाँ उनकी आत्मा उन्हे ले गयी है, वहाँ-वहाँ वे गये हैं। आत्मा का रहस्य अपने मे स्वय सरस वस्तु है, किन्तु सूर के हाथो मे पडकर वह अत्यन्त सरस हो गया है, इससे अधिक सरस कविता की कल्पना कल्पना ही रह जायेगी। सूर ने आत्मा के उत्कट विश्वास के साथ कृष्ण की ईश्वर रूप में अर्चना की है। सूर का सम्पूर्ण काव्य इसका साक्षी है। सूर ने कृष्ण के लौकिक जीवन के माध्यम से असीम की अलौकिक झलक प्रस्तुत की है और भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं में भी एकता के भाव को बनाये रखा है और सूर के कृष्ण पुष्टि मार्ग के शुद्ध ब्रह्म 'सच्चिदानन्द' परब्रह्म के परिचायक बने, वे उनके साहित्य मे धर्म की सशक्त भावना को भी बनाये रखते हैं।

मृत्यु से पूर्व चतुर्भुजदास के प्रश्न पर सूरदास ने गोपी भाव को भक्ति मे सर्वश्रेष्ठ भाव बताकर, सखी भाव से भगवद् भजन का अथवा कान्ता भाव से भगवद् भजन का महात्म्य बताया—

भजि सखि-भाव भाविक देव।
कोटि साधन करो कोऊ, तौऊ न मानै सेव॥
धूमकेतु कुमार माँग्यो, कौन मारग प्रीति।
पुरुष ने तिय-भाव उपज्यो, सबै उलटी रीति॥
बसन-भूषन पलटि पहर, भाव सो संजोय।
उलटि मुद्रा दई अकन, बरन सूधे होय॥
वेद विधि कौ नेम नहिं, जहाँ प्रेम की पहचान।
व्रज वधू बस किये मोहन, 'सूर' चतुर सुजान॥[1]

सूर ने अपनी भक्ति को क्रमशः अग्रसर कर अन्त मे कान्ता भाव की भक्ति की सीमा रेखाओ का स्पर्श किया। आरम्भ मे उन्होने विनय के

1. सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ६२।

पदो द्वारा मानो कृष्ण के चरित्र का रूप अकन करने के लिए सुन्दर भूमिका बाँधी है ।

गोपियो को सूर ने पुष्टि सम्प्रदाय के अनुरूप पुष्टि के चार भेदो मे विभक्त किया है—वे व्रजागनाएँ जिन्होने कृष्ण का लोकवत् बाल भाव से भजन किया है । इस प्रकार के भजन मे वात्सल्य भावना की स्थिति रहती है । सूर ने वात्सल्य के वियोग पक्ष का भी अकन अपने काव्य मे किया है जरूर, पर वह उतना प्रभावशाली नही है जितना वात्सल्य के सयोग पक्ष का वर्णन । अधिकता भी वात्सल्य के सयोग पक्ष की ही रही है । फिर भी जितना वर्णन वियोग पक्ष का हुआ है, वह स्वाभाविक एव सुन्दर बन पडा है ।

सूर ने पुष्टि मर्यादा के अन्तर्गत उन गोप बालाओ को रखा है जिन्होंने कान्हा को स्वकीय भावना से अपनाया है । राधा ने भी कान्हा को स्वकीय भावना से अपनाया है, पर राधा को हम पुष्टि मर्यादा के अन्तर्गत नही ले सकते । पुष्टि मर्यादा के अन्तर्गत वेद विहित मर्यादाओ का पालन करते हुए भगवद् भजन की भावना है, जहाँ कि राधा तो पूर्ण रूपेण समर्पिता है और सूर ने उसे प्रकृति के रूप मे ही प्रस्तुत किया है । सूर की राधा विषयक भावना मे भी पूर्व स्थित राधा सम्बन्धी विचारो से भिन्नता एवं मौलिकता है । गीत गोविंदकार जयदेव ने राधा को परकीया के रूप मे अपनाया है किन्तु सूर ने राधा को परकीया के अन्तर्गत नही रखा । इस प्रसंग पर हम आगे कुछ विचार करेंगे ।

पुष्ट-पुष्टि के अन्तर्गत सूर ने उन गोपागनाओ को लिया है जिन्होने वेद-मर्यादा को तोड़ कर सर्व प्रकार सासारिक भय से मुक्त होकर कान्हा को परकीय भावना से प्रेम किया है । परकीया के प्रेम मे जो उत्सुकता, मिलनातुरता तथा प्रेम-व्यजना की तीव्रता है, वह स्वकीया भाव मे नही । वह हर अवसर का उपयुक्त लाभ उठाकर कान्हा को जी भर कर पा लेने की भावना के उन्माद मे उन्मादिनी बनी रहती है । इन गोपियो का यथोचित वर्णन सूर ने भक्ति भावना को स्पष्ट करने के लिए किया है । जीव ससार से अपना इतना घनिष्ठ भाव सम्बन्ध जोड लेता है मानो उसे इस ससार से व्याह लिया गया हो । जब उसे विद्या माया के प्रभाव से ज्ञान होता है तो वह सासारिक सम्बन्धो को तृणसम तोडकर भगवान की ओर अग्रसर होता है । गोपियो को जीवात्मा के रूप मे ही शुद्धाद्वैतवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत बताया गया है और उनके सासारिक

सम्बन्ध मोहजाल कान्हा के अनुग्रह से बजी बाँसुरी की टेर पर टूट कर रह जाते हैं और गोपियाँ अपना घर-बार, पति-पुत्र सब कुछ छोड कर उस ध्वनि की ओर दौड़ पड़ती है। भले ही इसमे सामाजिक मर्यादाओ के उल्लंघन का आरोप सूरदास पर लगाया जाता रहा हो किन्तु भगवान के प्रति ऐसी ही लगन अपेक्षित है और हम पहले ही इस बात की ओर सकेत कर आये हैं कि अलौकिक प्रेम को समझने के लिए लौकिक प्रेम का आधार लेना अनिवार्य हो जाता है। भ्रमरगीत मे इन गोपागनाओं की विरह दशा का भी वर्णन है।

राधा को शुद्ध पुष्टि के अन्तर्गत रखना ही उचित होगा जो श्याम मे इतनी खोयी हुई है कि वह उनसे अभिन्नता अनुभव करने लगती है। वह उनकी आनन्द लीला का नित्य रसानुभव करती दृष्टिगत होती है। बाह्य स्थिति के समय वह पूर्ण-धर्मी-सयोग सुख का आनन्द अनुभव करती है और आन्तरिक स्थिति के समय वह पूर्ण-धर्मी-विप्रभोगात्मक सुख का आनन्द अनुभव करती है। कान्हा के द्वारा अपने रूप का परिचय पाने पर[1] राधा आत्मज्ञान के आनन्द मे लीन हो जाती है।[2] उसके नेत्र मे, वाणी मे, हृदय में, मन में, तन मे सभी स्थानो मे परमानन्द स्वरूप लीलामय कृष्ण की स्थिति रहती है और वह भाव रूप हो जाती है और भाव मे ही निरन्तर विलास करती है।

श्रीमद्भागवत मे राधा का उल्लेख नही आया। वहाँ एक विशिष्ट गोपिका का उल्लेख अवश्य हुआ है। सूर ने अपने पूर्व प्रचलित राधा के रूपों को नही अपनाया। सूर से पूर्व जयदेव के गीतगोविंद की राधा का रूप, विद्यापति की राधा तथा चण्डीदास की राधा का रूप हमारे सामने आता है। "जयदेव की राधा पूर्ण विलासवती प्रगल्भा और विद्यापति की राधा

---

१. ब्रजहिं बसैं आपुहि बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु, बातन भेद करायो।
द्वै तन जीव एक हम दोऊ, सुख कारण उपजायो।
(सूरसागर, दशम स्कन्ध, २३०५।)

२. तब नागरि मन हर्ष भई।
नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनन्द भई।
प्रकृति पुरुप नारी मैं वे पति काहे भूलि गई।
(सूरसागर, दशम स्कन्ध, २३०६।)

ईषदुद्भिन्नयौवना है, चण्डीदास की राधा उन्मादमयी मोम की पुतली। ये तीनों ही धन्य है पर और भी धन्य है वह बाल किशोरी, वह 'लाल की बतरस लालच से मुरली लुका' धरने वाली, वह 'आँख-मिचौनी मे वडरी अँखियान के कारण वदनाम' बरसाने की छबीली वृषभानुलली। वह बालिका है, वह किशोरी है, वह ग्वालिनी है, वह व्रजरानी है। शोभा उस पर सौ जान से निसार है, शृंगार उसका गुलाम है, त्रैलोक्य उसकी आँखों की कोर के मुहताज है, फिर भी वह तद्गत-प्राणा हैं।"[१]

स्वामी-सेवक भाव की भक्ति—सूर की स्वामी-सेवक भाव की भक्ति के परिचायक उनके विनय के पद है, जिनमे ससार के विषय-वासना, जन्म, लोभ, मोह, मद, क्रोध आदि भावो की भरपूर निन्दा की गयी है। सूरदास का यह दृष्टिकोण विनय के पदों के अतिरिक्त प्रकारान्तर से दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धो मे व्यक्त हुआ है, पर इस भाव की प्रधानता विनय के पदो मे ही दृष्टिगोचर होती है।

सूरदास के आरम्भिक जीवन मे उनके वैराग्य की भावना प्रधान थी। इसके कारण वे एक बार गृह त्याग कर चार कोस की दूरी पर पीपल के वृक्ष के नीचे स्थान बनाकर रहे थे और १८ वर्ष की आयु मे पुनः वैराग्य की भावना के उदय के कारण उस स्थान का परित्याग कर गऊ घाट पर जा बसे थे। यही कारण है कि उनके आरम्भिक काव्य मे, जो महाप्रभु वल्लभाचार्य से सम्पर्क मे आने से पूर्वकाल की रचना है (संवत् १५६७ से पूर्व का काव्य), उसमें सासारिक जीवन के प्रति उदासीनता का भाव दिखाई देता है। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के अनुसार "इस भाव का दार्शनिक आधार शंकराचार्य का मायावाद था।"[२]

सूर के आरम्भिक जीवन के पदों मे आत्म-प्रताडना की भावना की भी प्रधानता मिलती है, जिसमे भक्त की दीनता के दर्शन होते हैं और भक्त अपने दीन भाव से भगवान की अनुकम्पा की आशा रखता है कि सम्भवतः उसकी दयनीय दशा पर दीनानाथ कही ढर पड़े तो बेड़ापार लग ही जायगा।

जहाँ सूरदास ने अपनी दीनता का प्रदर्शन किया है, वहाँ भगवान की

---

१. सूर साहित्य : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १०३।
२. सूरदास . व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ १३९।

उदारता एव द्रवणशीलता का भी बखान किया है। सूरदास ने इन पदो मे कामनाओं के त्याग, कथनी-करनी मे एकरूपता, ज्ञान भावना, कर्म-पवित्रता, योग-यज्ञ-जप-तप, सत्सग, हरि विमुखो के परित्याग, वैराग्य, आत्मज्ञान, भगवत्कृपा, गुरु कृपा एव अपने अपराधो की अनुभूति एवं उसके लिए क्षमा-याचना की भावना—उद्धार की भावना का समावेश कर दिया है। और अन्त मे वह 'सर्वधर्मानपरित्याय मामेकं शरण व्रज'[1] की भावना से भगवान की शरण मे आत्मसमर्पण कर लेते हैं। और वे अपने मन को समझाते हुए कहते हैं—

सकल तजि भजि मन चरण मुरारि।
श्रुति, स्मृति अरु मुनिजन भाषत है, मैं कहत पुकारि॥
जैसे स्वप्ने सोइ देखियत तैसे यह संसार।
जात विलै व्है छिनक भाव मे उघरत नैन किवार॥
बारै वार कहत मैं तोसो जन्म न जुवा हारि।
पाछे भई सु भई सूरजन अजहूँ समुझि सँभारि॥[2]

वात्सल्य रस की भक्ति—सूर के समस्त काव्य मे वात्सल्य की भावना प्रधान स्थान वनाये रही है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वालकृष्ण को इष्ट देव के रूप मे उपस्थित किया है। उन्होने पूर्व प्रचलित सभी सम्प्रदायो की अपेक्षा कृष्ण लीला (विशेप रूप से कृष्ण की वाल लीला) पर विशेष वल दिया है। कृष्ण की वाल लीला का सम्वन्ध नन्द एव यशोदा से ही था। वैसे इन वाल लीलाओ मे लीला ही लीला मे उनका असुर-निकन्दन रूप भी मुखरित हो उठा है, किन्तु उद्देश्य उसका लीला गान ही रहा है। सूर के वाल साहित्य के कारण ही हिन्दी मे नये रस—वात्सल्य रस की प्रतिष्ठापना हुई है और यह वात भी सूर के वाल लीला वर्णन के महत्व को प्रतिपादित करती है।

वात्सल्य रस का स्थायी भाव आपत्य या सन्तान है। वात्सल्य के भी दो पक्ष माने गये हैं—संयोग एवं वियोग पक्ष। कृष्ण की कथा मे प्रसंग ही ऐसा आ पडता है कि नन्द और यशोदा कृष्ण के अभाव की पीडा का अनुभव करते विलख उठते है। फिर भी सूर का मन जितना संयोग पक्ष के वर्णन मे

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता, १८।६६।
२. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, ३७४

लगा है उतना वियोग पक्ष मे नही। जिस सूर ने प्रेम के वियोग पक्ष का वडा ही सुन्दर, मनोरम एव अद्वितीय चित्र गोपियो की विरह वेदना के रूप मे अकित किया है, कृष्ण के वियोग मे नन्द एव यशोदा को उतना नही रुला पाये। यहाँ तो उनका मन कान्हा की वाल-लीलाओं, रूप वर्णन तथा वाल्य सुलभ स्वभाव के अकन मे ही लगा है। वाल दशा के न जाने कितने विभिन्न रूप सूर को अपनी वन्द आँखो से दिखाई देते थे। उनके इसी विविध वर्णन एवं सजीव मनोवैज्ञानिक चित्रण की कुशलता ने ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से कहलवाया था—" 'वात्सल्य' और 'शृगार' के क्षेत्रो का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी वन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नही। इन क्षेत्रो का कोना-कोना वे झाँक आये। उक्त दोनो रसो के प्रवर्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओ का अनुभव और प्रत्यक्षी-करण सूर कर सके, उतनी का और कोई नही। हिन्दी साहित्य मे शृगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।"[1] उन्होंने अपने व्यक्तित्व को यशोदा के व्यक्तित्व मे मिलाकर ही भगवान कृष्ण की वाल लीलाओ का प्रत्यक्ष अनुभव किया है और अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। उन्होने मातृ हृदय की प्रत्येक परिस्थिति एव मनोभाव का वडा ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। माता के हृदय की वेचैनी और अकुलाहट का सजीव चित्र सूर ने खीचा है। यशोदा मन मे एक साधारण माता की तरह यह अभिलाषा रखती है कि कव मेरा लाल घुटनो के वल चलेगा? कव पैरों पर खडा होकर दो पैर आगे वढ़ेगा? कव मेरा आँचल पकड-पकड कर वात-वात पर मुझसे झगड़ेगा? कव अपने आप थोडा-थोडा खाना सीखेगा? कव हँस-हँस कर मुझसे वाते करेगा? और कव मैं उसकी शोभा को देख देखकर अपने जी के दुःख दूर करूँगी?

> यशुमति मन अभिलाष करै।
> कव मेरो लाला घुटुरुवन रेंगै, कव धरनी पग द्वैक धरै॥
> कव नन्दहि वावा कहि वोलै, कव जननी कहि मोहि ररै।
> कव मेरो अचरा गहि मोहन, जोइ सोई कहि मोसों झगरै॥

---

१. भ्रमर गीत सार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २-३।

कव धौं तनक तनक कछु खैहै, अपने कर सौं मुखहिं भरै।
कव हँसि वात कहैगो मोहिसो, छवि पेखत दुख दूरि करै॥

वच्चे दूध पीने पर माँ को कितना सताते है और माँ वच्चे के मनोभावो को परखने मे कुशल होने के नाते उनकी मनोवांछित वस्तु प्राप्ति का लोभ दिलाकर वच्चे को दूध पिलाती है। कान्हा के मन मे भी वलराम के वडे-वड़े वाल देखकर ईर्ष्या होती थी कि काश उनके भी वाल वड़े होते! तव यशोदा उनसे कहती है—

कजरी को पय पान करो, जासो तेरी वेनि वढै।

और कान्हा को भी तो देखिए, एक-एक घूँट पीता वालो को हाथ लगाकर उनकी लम्वाई वढ़ने का प्रमाण खोजता दिखाई देता है—

पुनि पीवत ही कच टकटोरत झूठहिं जननि रढै।

यशोदा कुछ गा-गा कर थपकी दे-दे कर कान्हा को झूले मे सुलाने का प्रयत्न कर रही है। कान्हा वालसुलभ शरारत के भाव से कभी आँखें मूँदता है तो कभी खोल वैठता है और उसे आँखे मूँदते देखकर यशोदा उसे सोया जानकर दूसरो को भी मौन होने के इशारे कर स्वय गाना वन्द कर देती है तो कान्हा आँखें खोल देते है और यशोदा को पुनः गाना पडता है—

यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं वेगिहि आवे, तोको कान्ह वुलावै॥
कवहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कवहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि-करिसैन वतावै॥
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि यशुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नद भामिनि पावै॥

कान्हा का चन्दा की तरफ हाथ वढा-वढा कर उसकी माँग करना वाल-सुलभ लक्षण है। यशोदा कान्हा के इस भाव का परिचय अपनी सखी को दे रही है—

मेरो माई ऐसो हठी वाल गोविन्दा।
अपने कर गहि गगन वतावत, खेलन को माँगै चन्दा॥

श्रीकृष्ण ने लीलावश गोपियो के घर मे मक्खन-दधि की चोरियाँ भी खूब की। कभी-कभी वे रगे हाथो पकडे भी गये, किन्तु चतुराई तो यह कि चोरी पर सीनाजोरी और चोरी करते समय भी अपनी परोपकारी भावन की डीग हाँकना ! भला ऐसे भोले भाव पर गोपी क्या करती ?

श्याम कहा चाहत से डोलत।
बूझे हूते वदन दुरावत सूधे बोल न बोलत ॥
सूने निपट अँधियारे मन्दिर दधि भाजन मे हाथ।
अव कहि कहा वनै हौ उत्तर कोऊ नाहिं न साथ ॥
मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे मे आयौ।
देखत ही गोरस मे चीटी काढ़न को कर नायौ ॥
सुनि मृदुवचन निरखि मुख सोभा, ग्वालिनि मुरि मुसुकानी।
'सूर' स्याम तुम हो अति नागर, वात तुम्हारी जानी ॥

वात-वात मे वलराम का कान्हा को चिढाना, कान्हा की वार-वार शिकायत वाल मनोविज्ञान के सुन्दर उदाहरण है—

मैया मोहि दाऊ वहुत खिझायौ।
मोसो कहत मोल को लीन्हौ तोहि जसुमति कव जायौ ॥

और—

मैया वहुत वुरौ वलदाऊ।

वच्चो का माटी खाना और माँ का खीझ उठना—

मोहन काहे न उगिलौ माटी।
वार वार अनरुचि उपजावति महरि हाथ लिये साँटी ॥

गोपी ने कान्ह को चोरी करते रँगे हाथो पकड लिया है और आज वह उसे पकड कर यशोदा के पास ले जाना चाहती है। कान्हा ने झूठ का सहारा लिया कि "तेरी सौं हौं नेकु न चाख्यौ सखा गये सव खाई।" उधर उनका मुख मक्खन से भरा है। ग्वालिन इस भोले भाव पर गुस्सा भुलाकर उन्हे गले लगा लेती है—

चोरी करत कान्ह घर पाये।
निसिवासर मोहिं वहुत सतायो अव हरि हाथहि आये ॥
माखन दधि मेरो सव खायो वहुत अचगरी कीन्ही।

अव तो फद परे हो लालन तुम्हे भले मैं चीन्ही ॥
दोउ भुज पकरि कह्यौ कित जै हो माखन लेहु मँगाई ।
तेरी सौं हौ नेकु न चाख्यौ मखा गये सव खाई ॥
मुखतन चितै विहँसि हँसि दीनो रिस तव गई वुझाई ।
लियौ उरलाइ ग्वालिनी हरि को 'सूरदास' वलि जाई ॥

सूरसागर ऐसे सरस दृश्यो से भरा पडा है। उदाहरण खोजने नही पडेंगे। अव एक दो उदारहृण वात्सल्य के वियोग पक्ष के भी देखिए। कान्हा के अभाव मे यशोदा को पूरा घर सूना-सूना सा लगता है। आज उसको गोपियो के उलाहने नही मिल रहे, पर वे उलाहने भी कितने प्रिय थे—

मेरे कुँवर कान्ह विनु सव कछु वैसेहि धर्यो रहै ।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेत गहै ॥
सूने भवन यशोदा सुत के गुन गुनि शूल सहै ।
दिन उठि घेरत ही घर ग्वारनि उरहन कोऊ न कहै ॥
जो व्रज मे आनन्द हुतो मुनि मनसाहु न गहै ।
सूरदास स्वामी विन गोकुल कौडी हू न लहै ॥

यशोदा देवकी को पथिक के हाथो जो सन्देश भेजती है, उसमे हृदय की मर्म वेदना का क्रन्दन छुपा है —

सन्देसो देवकी सौं कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की दया करत ही रहियो ॥
जदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहि कहि आवै ।
प्रातहि उठत तिहारे कान्ह को माखन रोटी भावै ॥
तेल उवटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते ।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हाते ॥
सूर, पथिक सुनि, मोहि रैन दिन वाढ्यो रहत उर सोच ।
मेरो अलक लडैतो वालक ह्वै है करत सकोच ॥

सखा भाव की भक्ति—लौकिक व्यवहार मे जो मित्रता का आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसी आदर्श भाव को सख्यभक्ति मे भक्त भगवान के प्रति रखता है। वह मित्र भाव से निस्वार्थ भाव से प्रेम-व्यवहार करता है। सूर की सखा भाव की भक्ति का अकन सूर ने कान्हा की गोचारण लीलाओ,

बाल लीलाओ के अन्तर्गत किया है। इसके साथ ही सूर ने सुदामा के माध्यम से कान्हा के प्रति सखा भाव की भक्ति का सुन्दर परिचय दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध के 'सुदामा-दरिद्र-भजन' नामक प्रसग मे दिया है।

मित्रता असम व्यक्तियो मे नही होती। अगर होती है तो वहाँ असमानता की भावना का लोप हो जाता है। अगर असमानता का भाव बना रह जाय तो मुक्त हृदय से सखा के प्रति भावाभिव्यक्ति सम्भव नही, जहाँ कि मित्रता मे न किसी प्रकार के दुराव की आवश्यकता है और न ही दिखावे की; वहाँ तो सहज स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति होती है। सूर ने सुदामा के साथ ही अर्जुन एव सुग्रीव (सुग्रीव की राम के प्रति मित्रता—सखा भाव) की मित्रता का वर्णन भी किया है।

सुदामा को निर्धन अवस्था मे आता देख कर सूर ने कृष्ण का वर्णन इस पद मे किया है —

दूरिहि ते देखे बलवीर।
अपने बाल सखा सुदामा, मन्निन वसन, अरु छीन शरीर॥
पौढे हुते प्रयक परम रुचि, रुक्मिणी चमर डोलावति तीर।
उठि अकुलाइ अनमने लीने मिलत नैन भरि आए नीर॥
× × × × ×
दरसन परसि दृष्टि सम्भापन रही न उर अन्तर कछुपीर।
सूर सुमति तंदुल चवात ही कर पकर्‌यो कमला भई भीर॥[1]

वास्तव मे दीनवन्धु भक्तवत्सल भगवान के विना मित्रता का ऐसा निर्वाह कौन कर सकता है ? तभी तो सुदामा कहता है—

ऐसे मोहि और कौन पहिचानै।
सुन सुन्दरि, दीनवन्धु विनु कौन मिताई मानै॥
कहाँ हम कृपण, कुचील, कुदरशन, कहाँ वे यादवनाथ गुसाईं।
मेरे हृदय लगाइ अक भरि उठि अग्रज की नाईं॥
निज आसन वैठारि परम रुचि निज कर चरन पखारे।
पूछी कुशल श्यामघन सुन्दर, सव संकोच निवारे॥

---

१. सूरसागर, दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १६८९।

लीने छोर चीर ते चाउर कर गहि मुख मे मेले ।
पूरव कथा सुनाइ सूर प्रभु, गुरु गृह वसे अकेले ।।[1]

ऐसे प्रेम पर सूरदास वलि ही जाना चाहते है—

ऐसी प्रीति की वलि जाऊँ ।
सिंहासन तजि चले मिलन कौं, सुनत सुदामा नाऊँ ।।
कर जोरे हरि विप्र जानि कै, हित करि चरन पखारे ।
अंकमाल दै मिले सुदामा, अर्धासन वैठारे ।।
अर्धंगी पूछति मोहन सौं, कैसे हितू तुम्हारे ।
तन अति छीन मलीन देखियत, पाउँ कहाँ तै धारे ।।
सन्दीपन कै हमऽरु सुदामा, पढ़े एक चटसार ।
सूर स्याम की कौन चलावै, भक्तनि कृपा अपार ।।[2]

कृष्ण वाल सखाओं के साथ खेल मे हार कर खीझ के साथ रुष्टता प्रकट करने लगे तो सुदामा ने मित्रता मे समाधिकार की भावना प्रकट की—

खेलन मे को काको गोसैयाँ ।
हरि हारे जीते श्रीदामा वरवस ही कत करत रिसैयाँ ।।
जाति पाँति हमते कछु नाहिन बसत तुम्हारी छहियाँ ।
अति अधिकार जनावत याते, अधिक तुम्हारे है कछु गइयाँ ।।
रूठहि करै तासौ को खेलै, रहै पौढि जहाँ तहाँ सव ग्वैयाँ ।
सूरदास प्रभु खेलोई चाहत, दाँव दयो करि नन्द दोहैयाँ ।।[3]

सूर ने विनय के पदो मे कान्हा से सीधा सम्वन्ध भी जोडा है । सूर ने एक स्थल पर अविद्या से भ्रमित अपनी मानसिक वृत्ति को अन्योक्ति द्वारा हरिहाइ गाय कहते हुए कृष्ण से प्रार्थना की है कि वे मित्र अनुग्रह के साथ उनकी गाय को भी अपने गोधन मे मिलाकर चरा लें, क्योकि वे उसे सँभालने मे असमर्थ हैं—

माधव जू यह मेरी इक गाई ।
अव आजु ते आपु आगे लै आइये चराई ।।

---

१. वही, पृष्ठ १६९२ ।
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १६८९ ।
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध, पद ८६३ ।

हैं अपि हरिहाई हटकत हूँ, वहुत अमारग जाती ।
फिरति वेद वन ऊख उखारति सव दिन अरु सव राती ॥
हितकै मिलै नेहु गोकुल पति अपने गोधन माँह ।
मुख सोऊँ सुनि वचन तुम्हारे देह कृपाकरि वाँह ॥
निधरक रहौ सूर के स्वामी जन्म न जाऊँ फेरि ।
मैं ममता रुचि सो रघुराई पहले लेऊँ निवेरि ॥[१]

सूर ने भगवान की तीन विभूतियो—शक्ति, शील एव सौन्दर्य से सौन्दर्य तक ही अपने को सीमित रखा है जो प्रेमाकर्पण का प्रधान अग है । श्रद्धा या महत्त्व बुद्धि पुष्ट करने के लिए कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्त्व की प्रतिष्ठा मे सूर को रुचि न थी । यही कारण है कि सूर की भक्ति मे कृष्ण के प्रति सख्य भाव एवं कान्ता भाव की प्रधानता दिखाई देती है ।

कान्ता भक्ति : मधुरा भक्ति—भक्ति के विषय मे आचार्य माने जाने वाले नारद एवं शाडिल्य ने भक्ति को क्रमश: 'परम प्रेमरूपा एवं अमृतस्वरूपा'[२] एव 'परानुरक्ति'[३] कहा है। नारद ने भक्ति के एकादश रूपों—क्रमशः गुणमहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति एव परम-विरहासक्ति का भी उल्लेख किया है ।[४]

किन्तु भक्ति के समस्त रूपों हम सखी भाव अथवा कान्ता भाव की भक्ति (मधुरोपासना) को ही श्रेय मानते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप महा प्रभु चैतन्यदेव एव भक्तराय रामानन्द का सवाद ऊपर दिया जा चुका है । 'वृहदारण्य कोपनिषद्' मे कहा गया है—"जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या द्वारा आलिगित पुरुष को न कुछ वाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिगित हो जाने पर न कुछ वाहर का विषय जानता है और न भीरत का ही ।"[५]

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद ५१ ।
२. "सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा । अमृत स्वरूपाच ।" (नारदभक्ति, सूत्र२-३ ।)
३. "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शाडिल्य, भक्ति सूत्र, २ ।)
४. नारद भक्ति सूत्र, ८२-८३ ।
५. तद् यथा प्रियता स्त्रिया सम्परिष्वक्तो वाह्य किञ्चनवेद नान्तर मेव मेवाय (शेष आगे)

ऋग्वेद में भी भक्ति के स्वरूप को समझाने के लिए ऐसे ही भाव रखे गये हैं—"अनवद्या पतिजुष्टेव नारी" (अर्थात् अपने पति के प्रति प्रेमासक्त अनिन्दनीय पत्नी की भाँति) अथवा 'जायेव पत्यउशती सुवासाः" (अर्थात् पति की प्रसन्नता तथा उसके आकर्षण के लिए जिस प्रकार कोई कामिनी अपने को सुन्दर शृंगारो द्वारा सुसज्जित किया करती है)। ईश्वरोन्मुख प्रेम को समझने एव समझाने के लिए नित्य ही लौकिक आधार लिया जाता है, उसके अभाव मे उसके रूप को समझाया भी नही जा सकता और सांसारिक प्रेम मे भी पति-पत्नी के प्रेम को सर्वाधिक श्रेय प्राप्त होता रहा है, अतः भगवद् विषयक प्रेम के लिए भी कान्ता भाव की भक्ति को ही सर्वाधिक श्रेय प्राप्त हुआ है। मनोविज्ञान शास्त्र के आधार पर भी हम और किसी तथ्य पर नही पहुँच सकते।[1]

इस विषय मे और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सृष्टि के आरम्भ एवं विकास मे भी पुरुष एवं नारी के समागम की कल्पना की गयी है। धार्मिक पूजा मे लिंगोपासना का महत्त्व भी इस बात का प्रतिपादन करता है। यह भावधारा विश्व की विभिन्न जातियों के प्राचीन इतिहास से सिद्ध हो जाती है, यह केवल भारतीय भावधारा रही है सो बात नही।

"मधुरोपासना के उत्कृष्ट उदाहरण हमे स्वभावतः वही पर बड़ी संख्या मे उपलब्ध हो सकते हैं, जहाँ दिव्य सत्ता को पुरुष रूप मे स्वीकार

पुरुष. प्राज्ञेनात्मता सम्परिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरं तद् वा अस्यैतदाप्त काम माप्त काम म् काम रूप-शोकान्तरम्।"

(बृहदारण्यकोपनिषद, अ. ४. ब्रा. ३ मं. २१)

1 "No psychologist can fail to see that love of God and the libido have the same mechanisms and that religious and sex normality and abnormality are very closely connected" [Stanly Hall quoted in 'Theory and Art of Mysticism' by Radha Kamal Mukherjee (Asia Publishing House, Bombay), p. 127]

करते हुए उसके प्रति कान्ता भाव के साथ प्रेमासक्ति प्रकट की जा सके तथा जहाँ पर वैसा ही एकान्तनिष्ठ और आत्मसमर्पण का भाव भी हो जैसा आत्मविस्मृति पूर्वक 'तदीय' वनकर अपने को पूर्ण तल्लीन वना देने की सतत् चेष्टा मे सम्भव प्रतीत होता है। यह साधक चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, उसकी मनोवृत्ति पूर्णतः उसी रूप मे ढली होनी चाहिए जो किसी प्रेमिका की अपने प्रेम-पात्र के प्रति प्रदर्शित आसक्ति का हुआ करता है, किन्तु इसके साथ ही उसे किसी वासनात्मक अनुराग जैसा होना भी अपेक्षित नही।"[१]

हिन्दी साहित्य के सगुण तथा निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत इस साधना पद्धति की प्रधानता पायी जाती है। इन सन्तो एव भक्तो की साधना एवं भक्ति स्वानुभूतपरक एव आत्मसमर्पण की भावना से प्लावित रही है।

ऊपर पुष्टि मार्ग के विश्लेषण के अन्तर्गत इस वात को स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वाधीन भक्त जव अपने भाव जगत् के जरिए भगवान से संयोग एवं विप्रयोग के सुख का साक्षात्कार करता है तव उसकी उस भावमयता या भावावस्था को शुद्ध पुष्टि की अवस्था कहेगे। उसे वाह्य अवलम्ब की आवश्यकता नही रहती, वह तो भाव जगत् मे ही लीन रहता है। हमने सूर के अन्तिम पद का भी उल्लेख किया है कि वे सखी भाव को ही सर्वश्रेष्ठ मानते रहे है।[२] सूरदास की अनेक रचनाओ मे हमे 'सूरसखी' अथवा 'सूर सुजान सखी' तक का नाम रचयिता रूप मे मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि कवि की इस ओर विशेष प्रवृत्ति रही होगी। ऐसी छाप वाली रचनाओं में युगल दम्पति की संयोगपरक लीलाओ का वर्णन पाया जाता है, जिनमे कवि की तन्मयता के भी दर्शन होते हैं। सूरदास की इन सखियो का अंकन स्वामी हरिदास वाले सखी सम्प्रदाय वाले कवियों के अंकन से वहुत साम्य रखता है जो प्रेमी एव प्रेमिका को केलि की सुविधा दिलाने मे उद्यत् जान पडती हैं।

सूरदास वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए थे और वल्लभ सम्प्रदाय ने पुष्टिमार्ग के अनुसार प्रेम मूला भक्ति को ही स्वीकारा था। प्रेम भाव की चरम सीमा प्रेमी एव प्रेमिका की एकता है। किन्तु प्रेम को चिर ऐक्य मानना भी

---

१. भक्ति साहित्य मे मधुरोपासना : परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ३४।

२. 'भजि सखी भाव भाविक देव।'

समीचीन नही है।[1] अतः सूरदास की इस प्रेममूला भक्ति के हमे दोनों पहलू—संयोग एवं वियोग के सन्तुलित रूप सूर काव्य मे दृष्टिगोचर होते है।

सूर मे प्रेममूला भक्ति को लक्ष्य कर डॉ० मुशीराम शर्मा लिखते है—"यों तो समस्त सूरसागर प्रेम की लम्वी-चौडी दिनचर्या का अथाह सागर है, प्रेम के विविध रूप दास्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि दर्पण में प्रतिविम्व की भाँति उसमे जगमगा रहे है और कृष्ण के साक्षात् भगवान होने के कारण अन्तत. सव भगेवद् भक्ति मे ही पर्यवसित हो जाते है, फिर भी यदि शुद्ध रूप से भक्ति सम्वन्धी प्रेम को ही लिया जाय तो उसका भी अनन्य-साधारण रूप सूरसागर मे दिखाई देता है।"[2]

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास भगवान के अवतार का कारण प्रेम ही वताते है। वे उनके समस्त कार्य-व्यवहार का कारण ही प्रेम वताते हैं—

निगम तै अगम हरि कृपा न्यारी।
प्रीति वस स्याम है राव कै रंक कोउ, पुरुष कै नारि नहिं भेद कारी॥
प्रीति वस देवकी गर्भ लीन्हौ वास, प्रीत कै हेतु व्रज वेष कीन्हौ।
प्रीति कै हेतु जसुमति पय पान कियौ, प्रीति कै हेतु अवतार लीन्हौ॥
प्रीति कै हेतु वन धेनु चारत कान्ह, प्रीति कै हेतु नंद-सुवन नामा।
प्रीति कै हेतु सूरज प्रभुहिं पाइयै, प्रीति कै हेतु दोउ स्याम स्यामा॥[3]

और—

प्रीति के वस्य ये हैं मुरारी।
प्रीति के वस्य नटवर सुमेर्पहि धर्‌यो, प्रीति वस करज गिरिराजधारी॥
प्रीति के वस्य व्रज भए माखनचोर, प्रीति के वस्य दाँवरि वँधाई।
प्रीति के वस्य गोपी-रमन नाम प्रिय, प्रीति वस जमल तरु मोच्छदाई॥
प्रीति-वस नद-वधन वरुन-गृह गाए, प्रीति के वस्य वन धाम कामी।
प्रीति के वस्य प्रभु सूर त्रिभुवन विदित, प्रीति वस सदा राधिका स्वामी॥[4]

---

१. "प्रेम को चिर ऐक्य कोई मूढ होगा तो कहेगा।
विरह की पीडा न हो तो प्रेम क्या जीवित रहेगा?" (अज्ञेय)
२. भक्ति का विकास : डा० मुशीराम शर्मा, पृष्ठ ६५५।
३. सूरसागर : दशम स्कन्ध, पद २६३५।
४. वही, पद २६३६।

प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं, वे सब सूर ने लाकर इकट्ठे कर दिये हैं।××सूर का संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नही है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमे अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कही कुछ नही दिखाई पडता।"[१]

राधा भी इधर कान्हा से मिलने के लिए अवसर खोजती रहती है, वह बार-बार बहाना करके खरिक मे गाय दोहने के हेतु माता से दोहनी माँगती रहती है, पर मूल उद्देश्य गोदोहन न होकर नये साथी से मिलना ही था—

नागरि मनहिं गई अरुझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ॥
श्यामसुन्दर मदन मोहन मोहिनी सी लाइ।
चित्त चंचल कुँअरि राधा खान पान भुलाइ॥
कबहु बिलपति कबहु बिहँसति सकुचि बहुरि लजाइ।
जननि सो दोहनी माँगति वेगि दै री माइ॥
'सूर' प्रभु को खरिक मिलिहौ गये मोहि बुलाइ॥[२]

प्रेम एक ऐसी पिपासा है जो कभी तृप्त नही होती। अगर यह पिपासा परितृप्त हो जाय तो प्रेम ही कहाँ रहा? अतः यह पिपासा ही प्रेमी जनो के लिए सब कुछ है। राधा कान्हा के प्रेम में सदा उनके संग रहकर भी क्या अपनी प्यास बुझा सकी?

सुन री सखी, दसा यह मेरी।
जब तें मिले श्यामघन सुन्दर सगहि फिरत भई जनु चेरी॥
नीके दरस देत नहिं मोको अंगन प्रति अनंग की टेरी।
चपला तें अति ही चचलता दसन दमक चकचौंध घनेरी॥
चमकत अग, पीत पट चमकत, चमकति माला मोतिनकेरी।
'सूर' समुझि विधना की करनी अति रस करति सौह मुँह तेरी॥[३]

---

१ भ्रमर गीत सार, पृष्ठ १६-१७।

२. सूरसागर, १२९६।

३. वही।

और—

जद्यपि राधिका हरि संग ।
हाव भाव कटाच्छ लोचन करत नाना रंग ।।
हृदय व्याकुल धीर नाही वदन कमल विलास ।
तृषा मे जल जाल सुनि ज्यों अधिक अधिकहि प्यास ।।
श्याम रूप अपार इत उत लोभ पट्ट विस्तार ।
'सूर' मिलत न लहत कोउ दुहुँनि वल अधिकार ।।[१]

सूर ने संयोग का विशद वर्णन किया है । सूर का वर्णन इतना सरल स्वाभाविक है कि सूर को मनोविज्ञान का प्रकाण्ड पंडित मानने को विवश होना पडता है । प्रेमोदय काल की विनोद वृत्ति और हृदय प्रेरित हाव-भावो की छटा सूर के काव्य से छलकी पडती है । खरिक मे राधा को समक्ष पाकर कान्हा के गोदोहन की छटा देखिए—

धेनु दुहत अति ही रति वाढी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढी ।
मोहन कर तें धार चलति पय, मोहनि-मुख अति ही छवि वाढी ।।[२]

इस पर राधा का प्रेमपूर्ण आक्रोष—

तुम पै कौन दुहावै गैया ।
इत चितवत, उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया ?[३]

राधा से पूछने पर कि वार-वार तू यहाँ क्यो आती है, राधा यशोदा को सहज भाव से उत्तर देती है—

"वार वार जनि तू ह्यां आवै ।"
"मैं कहा करौं सुतहि नहिं बरजति, घर तें मोहि वुलावै ।।
मोसों कहत तोहि विनु देखे रहत न मेरो प्रान ।
छोह लजत मोको सुनि वानी, महरि ! तिहारी आन ।।"[४]

---

१. वही, ३७४० ।
२. सूरसागर १३५४ ।
३. सूरसागर, १३५२ ।
४. सूरसागर, १३४१ ।

प्रेम का परिचय तो विरह मे ही मिलता है। वह प्रेम ही कैसा जो विरह-आँच मे फीका पड़ जाय ? विरह मे तो प्रेम का रग और निखर आता है। वह विरही धन्य है, वह हृदय धन्य है, जहाँ प्रेम की आग समा सकी है, अन्यथा पृथ्वी-आकाश मस्भीभूत हो जाते।[1] सूर के शब्दों मे सुनिए—

ऊधौ, विरही प्रेम करै।
ज्यों विन पुट पट गहत न रग कौ, रंग न रसै परै॥
ज्यों घर दहै वीज अंकुर गिरि, तो सतफरनि फरै।
ज्यों घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै॥
ज्यों रन सूर सहै सर सन्मुख, तौ रवि रथहुँ अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यो दुख-सुखनि डरै॥[2]

राधा की विरह दशा अन्य गोपियों की अपेक्षा विलक्षण है। वे कम से कम अपने दुःख-दर्द को कह तो पाती है, वे श्याम को अपनी व्यथा-वेदना का सन्देशा तो भेज पाती हैं, किन्तु राधा को अपने ही प्रेम पर सन्देह होने लगता है। क्या वास्तव मे मेरा प्रेम ही दोषयुक्त नही ? अन्यथा कान्हा क्या मेरा परित्याग कर सकते थे ? मुझसे दूर रह सकते ?

जव संदेसो कहन सुन्दरि गवन मोतन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन, अरुझी गिरी वलहीन॥[3]

और गोपियाँ जव कृष्ण को दोष देती है तो राधिका कहती है—

सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु॥
विद्यमान अपने इन नैननि, सूनौ देखत गेहु।
तदपि सखी व्रजनाथ विना उर, फटि न होत वड़वेहु॥
कहि कहि कथा पुरातन सजनी, अव नहिं अतहिं लेहु।
सूरदास तन यौंऽव करौंगी, ज्यौं फिरि फागुन मेहु॥[4]

---

१. "मुहमद चिनगी पेमकै, सुनि महि गगन डेराहिं।
धनिविरही औ' धनिहिया, जहँ अस अगन समाहिं॥"
(पदमावत . जायसी।)

२. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद ४६०४।
३ सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ४१०७।
४. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३८१४।

भ्रमर गीत सूर की मौलिक उद्भावना है। भ्रमर गीत हिन्दी साहित्य मे विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त सुन्दर एवं अनूठा रूप है। भ्रमर गीत से कवि का उद्देश्य भले ही निर्गुणोपासना पर सगुणोपासना को स्थापित करना रहा हो, फिर भी सूर काव्य के इस अश मे गोपियों के विरह-दग्ध हृदय की अलौकिक झाँकी मिलती है। सूर साहित्य के इस सम्पूर्ण भाग (भ्रमर गीत) को मधुरा भक्ति के वियोग पक्ष के अन्तर्गत ही रखा जायेगा।

अक्रूर कान्हा को लेने आते है और कान्हा उनके साथ जाने को उद्यत होते है। कान्हा के जाने की बात गोपियों के लिए इतनी असह्य थी कि वे कुछ कह भी तो न सकी, चित्र लिखी सी देखती रह गयीं। सम्भवत उन्हें कान्हा के जाने का विश्वास ही नही था कि वे उन्हे इस अवस्था मे छोड जाएँगे—

रही जहाँ सो तहाँ सब ठाढी।
हरि के वदन देखियत ऐसी मनहु चित्र लिखि काढी।।
सूखे वदन स्रवति नैनन ते जलधारा उर बाढी।
कंधनि बाँह धरे चितवति मनु द्रुमनि बेलि दव दाढी।।[1]

गोपियो को कृष्ण-विरह का दुःख तो था ही, उन्हे सबसे बडा कष्ट इस बात से हुआ कि कृष्ण बड़े कठोर हो गये हैं, चलते हुए उन्होंने उनकी ओर देखा तक नही—

चलतहुँ फेरि न चितये लाल।
नीके करि हरि मुख न विलोक्यौ, यहै रह्यो उर साल।।[2]

कान्हा के चले जाने पर मानो गोपियो का संसार ही उजड़ गया हो। उन्हे प्राकृतिक सौन्दर्य सुखद न लग कर उनके दुःखो मे अभिवृद्धि करने वाला लगता है। नीरस जीवन के साथ मेल न खाने के कारण वे वृन्दावन के हरे-भरे पेडो को कोसती है—

मधुवन तुम क्यों रहत हरे?
विरह-वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यो न जरे?[3]

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, २६६४।
२ वही, २६६५।
३. वही, ३८२८।

गोपियाँ अभिलाषा करने लगती है—"फिरि व्रज आइयो गोपाल।"[1] कान्हा के वियोग मे गोपियों की आँखो ने सावन-भादों को भी परास्त कर दिया है[2] और वे अनुभव करती है—

निसि दिन वरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावन ऋतु हम पर, जव तें स्याम सिधारे॥[3]

पिय की पिपासा लिये गोपियों की नीद भी नष्ट हो गई है।[4]

जव उद्धव कान्हा का सन्देश-वाहक वनकर गोकुल आता है, गोपियो की सुप्त पीडा जाग पडती है, तिस पर उद्धव गोपियो को ज्ञान सिखाता है। दिल और दिमाग का ३ और ६ का रिश्ता होता है, भावनाएँ भला बुद्धि से कभी हारी हैं? गोपियो को उपदेश का कडुवा घूँट असह्य हो उठता है। वे तो कान्हा के विरह रस में पगी उनकी जुदाई मे विगत की मधुर स्मृतियो एवं मनमोहक अभिलाषाओ मे अपने दिन काट रही थी। प्रेम की पीर कितनी मीठी होती है, कितनी प्यारी होती है, यह कोई विरही से पूछे, जहाँ विरही सम्भवतः यही कहता मिले कि—

हम तो भूल गये हैं तुमको, पाकर प्रेममयी पीडा।[5]

गोपियाँ भी जव इस उपदेश से ऊव उठती हैं तो उद्धव को आडे हाथो लेती हैं। कभी उन्हे उद्धव पर हँसी भी आती है और वे कहती है—

ऊधो! भली करी तुम आये।
ये वाते कहि कहि या दुख मे व्रज के लोग हँसाये॥[6]

और आखिर सूर उद्धव को गोपियो की सरल, सहज, भावमय प्रेम धारा मे वहा ही तो लेता है और उद्धव को अपने ज्ञान की गठरी का पता भी नही चलता कि वह कहाँ वह गयी और वह गोपियो का सन्देशवाहक बनकर कान्हा के पास लौट पडता है।

---

१ सूरसागर दशम स्कन्ध, ३८४५।
२. "नैना सावन भादो जीते।" (सूरसागर, दशम स्कन्ध, ३८५३।)
३ वही, ३८५४।
४ "हमको जागत रैनि विहानी।" (सूरसागर, दशम स्कन्ध, ३८८९।)
५. आँसू, : जयशंकर प्रसाद।
६. सूरसागर, दशम स्कन्ध, ४४००।

पुष्टि सम्प्रदाय का माधुर्य भाव मौलिक है। वह किसी अन्य समसामयिक पन्थ-सम्प्रदाय से उधार लिया हुआ नही है। यहाँ तक कि महाप्रभु चैतन्यदेव का गृह-त्याग और संन्यास भी आचार्य महाप्रभु के तिरोधान (सं० १५८७) के पश्चात् हुई घटना है। वल्लभ सम्प्रदाय ने इस मधुरा भक्ति को स्वकीया-राधा के मिस अपनाया है जहाँ कि चैतन्य सम्प्रदाय ने राधा-परकीया भाव से मधुरा भक्ति को अपनाया है।

सूर ने राधा और कृष्ण तथा विभिन्न गोपियो की जिस प्रेमकीडा का अबाध और अमर्यादित सागर लहराया है, उसके पीछे सूर की भक्ति-भावना का ही प्राधान्य रहा है और भक्ति मे भी माधुर्य भाव का। माधुर्य भाव की भक्ति मे काम को प्रतिलक्षित करते हुए श्री वशिष्ठ ने मुरादाबाद से प्रकाशित 'अरुण' के दिसम्बर १९३८ के अंक मे "कवि और व्यभिचार" नामक लेख लिखा था। उस लेख में सूर की इस मधुरा भक्ति को लक्ष्य कर उन्होने लिखा था "सूर की तरह और कवियो ने भी राधा-कृष्ण को ही नायिका-नायक माना है, परन्तु उनके काव्य धार्मिक न होने के कारण उतना विष नही फैला सके जितना सूर का 'धर्मसागर'। अन्य कवियों की कृतियाँ शृंगार और विलासिता की नग्न-मूर्तियां है, 'लेविल' लगी मद्य की बोतलें है, जिन्हे पीने वाला शराब समझकर पीता है। किन्तु सूर की बोतल पर लिखा है 'सोमरस' और गन्ध आती है मृगमद की। यद्यपि दूसरे कवियों (रीतिकालीन) की बोतल का जो प्रभाव है वही सूर के सोमरस का भी।"

इस आक्षेप का उत्तर 'साहित्य लहरी' की प्रस्तावना मे धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने इन शब्दो मे दिया है, "हमे मालूम है कि सूर वैरागी महात्मा थे। उनकी जीवनी और लेखनी मे छिछोरे समालोचक को काफी व्याघात दीख पड़ेगा। परन्तु डूब कर देखने से पता चलेगा कि वह व्याघात केवल व्याघात मात्र है। सूर की राधा नायिका है नही, किन्तु लोकोत्तर नायिका और कृष्ण एक लोकोत्तर नायक। अतः उनके शृगार के साथ हमारी भावनाएँ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव नही कर पाती।"

पूर्वकाल मे प्रेम और काम को अभिन्न माना गया था, किन्तु मध्यकाल तक आते आते प्रेम एवं काम अपनी-अपनी अलग स्वतंत्र सत्ताएँ लेकर खड़े हो गये। दूसरी ओर हम भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए भी

इस बात का परिचय पाते हैं कि उस अलौकिक भाव-भूमि को समझाने के लिए लौकिक आधारो की आवश्यकता प्रतीत होती है। ये लौकिक आधार साधन है साध्य नही। साध्य है भक्ति जिसमे काम का कलुषित रूप विद्यमान ही नही रह सकता। सूर की राधा तो विष्णु की द्विधाविभक्त शक्ति ही है, जिसको विष्णु ने सुख हेतु ही अपने से अलग किया था,[1] अत उसमे पापाचार की भावना का अवलोकन अवश्य ही पाठक के दूषित दृष्टकोण का परिचायक है।

---

१ "प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो।
द्वै तन जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारण उपजायो॥"
(सूरसागर, दशम स्कन्ध, २६।)

अष्ठम अध्याय

सूर का प्रकृति वर्णन

प्रकृति एव मानव का सम्बन्ध अनादि काल से है । सृष्टि के प्रथम पुरुष ने जब अपने नेत्र खोले होगे, तब उसे सर्वप्रथम प्रकृति की अनूठी सुषमा ही दृष्टिगोचर हुई होगी, अत. मानव का प्रकृति के साथ स्वाभाविक चिर साहचर्य स्थापित हो गया होगा। जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रकृति सदासर्वदा उसके साथ रहकर भाव-विकास मे एवं आनन्दानुभूति मे उसका योग देती रही है । इस चिर साहचर्य ने मानव मन मे प्रकृति के प्रति चिर आकर्षण के भाव को जन्म दिया और इस प्रेम-भाव एवं आकर्षण के कारण मानव को आत्म एव अनात्म (चेतन एव जड) की खाई असह्य हो उठी एव उसने प्रकृति मे परिवर्तन के भाव को खोज निकाला । प्रकृति मे परिवर्तन साधारणतया ऐसी गति मे होता है कि उसको पहचाना ही नही जा सकता और हम उसे जड मानते रहे है, हालाँकि परिवर्तन चेतना का ही द्योतक है। इस परिवर्तन का भान तव होता है जब व्यक्ति का ध्यान बदल जाता है और यह परिवर्तन से परिचय ही चेतना का द्योतक है। विश्व की क्रिया-शक्ति मानव के सम्मुख परिवर्तन के रूप मे उपस्थित हुई है । वह शक्ति प्रकृति के स्थिर स्वरूप में क्रियोन्मुखी लग सकती है और उसकी क्रियाशीलता मे गतिमान भी जान पडती है । समरूप से मानव के मन की क्रियोन्मुखी स्थिति एवं प्रयास तथा उत्सुकता के रूप मे क्रिया की वास्तविक स्थिति भी है। वाह्य एवं आन्तरिक जगत की इस समस्थिति के कारण मानव मे प्रकृति को सचेतन देखने की प्रवृत्ति हैं । जड़ जगत् मानव के जीवन-भोग मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता हैं । वह केवल अपनी सत्ता से जी ही नहीं सकता, वह जड जगत मे उपभोग द्वारा जीवन स्पन्दन का अनुभव करता है और उसके द्वारा अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति सहज भाव से कर पाता है ।

अह और समर्पण का संघर्ष मानव-जीवन का प्रधान संघर्ष है । जहाँ तक मानव अपने अह को प्रवल रखता है, वह न किसी का हो सकता है, न किसी को अपना वना सकता है । पर क्या इस स्थिति मे वह सन्तोष पा सका

है ? अगर वह अपने अह से सन्तुष्ट हुआ होता, तो वह अपने अह को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न ही क्यो करता ? अह मे आत्माभिव्यक्ति की प्रवल अभिलाषा रहती है और वह अपने आपको व्यक्त करने के लिए जड जगत को—अनात्म तत्त्व को आधार बनाता है। अह की जो अभिव्यक्ति, शब्द एवं अर्थ द्वारा होती है हम उसे साहित्य कहते है। दूसरे शब्दों में "साहित्य का प्रमुख लक्ष्य शब्दो के माध्यम से विश्वजनीन सघर्ष को प्रतिध्वनित करना है।"[1] हमारा लक्ष्य यहाँ पर साहित्य की व्याख्या करना नही, फिर भी साहित्य मे प्रकृति का स्थान निर्धारित करने के लिए उसकी मोटी लकीरो को देखना अनुचित न होगा। साहित्य को शब्दो के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति माना ही जाता है।[2] और हम इतना जानते हैं कि मानव अपने विकास मे प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है और काव्य मानव के विकसित मानस की अभिव्यक्ति है, अन्त. उसमे प्रकृति का अकन अनायास ही सहज भाव से हो जाता है, फिर भी इस रूप अकन मे जो विविधता पायी जाती है उसके मूल मे साहित्यकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का हाथ है क्योकि साहित्य का आधार व्यक्तिगत अनुभूति है।[3] कविता की आत्मा भाव है क्योकि कविता का जन्म ही भावोत्कर्ष की अवस्था मे होता है[4] और जब तक हमारे अन्त करण का सामजस्य वाह्य पदार्थों—प्राणियो या प्रकृति के साथ नही आता तव तक अन्तः-करण मे जाग्रति हो ही नही सकती। अत. कविता का जन्म आत्म एव अनात्म के सघर्ष (जीवन) मे ही सम्भव है। प्रकृति के विविधि, कोमल-कठिन, सुन्दर-कुरूप, व्यक्त-अव्यक्त रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य के मन को कितना प्रभावित किया है, उसका कितना परिष्कार एव विस्तार किया है

---

1. "The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict—Beauty."
(H. H. Purkhnrast.)
2 "Literature is the expression of life through the medium of language. (An Introduction to the Study of Literature : W. H. Hudson.)
3. "Personal expression is the basis of all real Literature."
(Ibid., p. 15.)
4. "Poetry is spontaneous overflow of emotional feelings recollected in tranquility." (Wordsworth)

इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। अतः मानव के भावों का परिष्कार करने वाली प्रकृति का काव्य में समावेश स्वतः ही हो गया है। कवियो की व्यक्तिगत प्रवृत्ति, निरीक्षण एवं अनुभूति के अनुसार प्रकृति का चित्रण काव्य मे कई ढगो से हुआ है।

आलम्बन रूप में : (क) जहाँ प्रकृति स्वय कवि के आकर्षण का केन्द्र बनकर उसमे अपना चित्रण स्वतन्त्र रूप मे करवाती है और वही उसकी कविता का प्राण बनी रहती है। प्रकृतिवादी कवियो ने इसी रूप मे प्रकृति को अपनाया है, जहाँ कवि प्रकृति के फैले हुए सौन्दर्य के प्रति सचेष्ट आकर्षित होकर उसकी क्रियाशीलता पर मुग्ध होता है। प्रकृतिवादी कवि जब रहस्योन्मुख होता है, तब वह प्रकृति के माध्यम से किसी अज्ञात सत्ता की ओर अग्रसर होकर उसकी अनुभूति प्राप्त करता है। उसकी दृष्टि की तुलना रूप-सौन्दर्य तक ही सीमित नही रहती, अपितु वह प्रकृति-चित्रण मे प्रतिबिम्बित आल्हाद और उल्लास की भावना मे भी देखी जा सकती है। वह प्रकृति के सचेतन-सप्राण सौन्दर्य मे एक ऐसा सम प्राप्त करता है जो तर्क से परे होकर आन्तरिक आनन्द का कारण बन जाता है।

(ख) मनुष्य मात्र की विशेषता है कि वह अपरिचित को साम्य के आधार पर समझने का प्रयत्न करता है। वह अपनी अनुभूतियों एवं मनोभावनाओं को अन्यो पर आरोपित करके उसे अभिव्यक्ति देना चाहता है। उसके स्वचेतन के आरोप की प्रवृत्ति ने प्रकृति को मानव मात्र की भाँति भावमग्न रूप मे अंकित किया है। यहाँ प्रकृति का मानवीकरण माना जाता है। मनुष्य की यह अदम्य वृत्ति केवल प्रकृति तक ही सीमित नही रही, उसने मनोभावनाओं का आरोप देवी-देवताओं पर भी किया है और उनका मानवीकरण होता जान पड़ता है। उदाहरणार्थ देखे तो वैदिक काल के देवता प्रकृति की किसी अधिष्ठित शक्ति के प्रतीक थे। बाद मे उन मे रूप का आरोप हुआ, किन्तु मध्य युग तक आते-आते उनमे मानवीय विचारों एवं भावनाओं के विशुद्ध रूप के दर्शन होते है।

उद्दीपन रूप में : (क) जहाँ प्रकृति के अतिरिक्त किसी अन्य आलम्बन के प्रति जाग्रत भाव में प्राकृतिक वातावरण उद्दीपन के लिए सहायक बनता है। प्रकृति का व्यंजनात्मक वर्णन एक ओर तो भावनात्मक वातावरण का निर्माण करता है और दूसरी ओर आगामी भावों को उद्बुद्ध करके सामने

लाता है। जव कवि प्राकृतिक वातावरण को अभीष्ट-सिद्धि मे असमर्थ पाता है, तव वह प्रकृति मे विकीर्ण सौन्दर्य राशि को एकत्रित करके नये रूपो का विधान करता है। अथवा काल्पनिक चित्रो द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करता है।

(ख) प्रकृति का आलकारिका वर्णन—कवि प्रकृति से अनेक उपमान लेकर साम्य या वैपम्य द्वारा आलम्वन की अथवा उसके प्रति उठने वाले भावों की अभिव्यक्ति करता है। प्रकृति का सवसे अधिक वर्णन इसी रूप मे पाया जाता है।

कवि-समय—कवियों द्वारा मान्य कुछ प्राकृतिक पदार्थो का ऐसे रूप मे वर्णन जो वहुधा प्रकृति मे दृष्टिगत नही होता। उदाहरणार्थ, हस का नीर-क्षीर चाव, चकोर का अगारे चुगना, चकवे-चकवी का रात्रि मे वियुक्त होना, चातक या पपीहे की टेक आदि। प्रकृति का सौन्दर्य भाव आध्यात्मिक साधना का विषय भी वना रहा है। प्रकृति का राशि-राशिकीर्ण सौन्दर्य भक्तो की भावना का आलम्वन हुआ है, पर यह समस्त सौन्दर्य उनके आराध्य के रूप निर्माण को लेकर ही है। वह अपने आराध्य के व्यक्तित्व-आकार मे जिस सौन्दर्य का अनन्त दर्शन पाता है उसमे प्रकृति का सारा सौन्दर्य अपने आप प्रत्यक्ष हो उठता है। भक्त कवि अपने आराध्य की प्रत्यक्ष सौन्दर्य भावना से ऐसा सम स्थापित करता है कि उस क्षण प्रकृति का कण-कण आनन्द भावना से उल्लसित हो उठता है। कवि अपने आराध्य के रूप को अनेक अवस्थाओ, स्थितियो तथा परिस्थितियो मे रख कर देखता है और उस चिर नूतन रूप की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करता है, जो चिर पुरातन होते हुए भी चिर नूतन वनी हुई है। वह उस सौन्दर्य को व्यक्त करके भी व्यक्त नही कर पाता और स्वयं मुग्ध-मौन हो उठता है।

भक्त शिरोमणि सूरदास के आराध्य देव लीला पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण व्रजभूमि मे अवतरित हुए थे तथा उनका व्यक्तित्व प्रकृति की गोद में विकसित हुआ और प्रकृति का उन्मुख क्षेत्र ही उनकी वालक्रीडाओं एवम् किशोरा-केलियों का रंगस्थल था, जिसके कारण सूर साहित्य मे अनायास ही प्रकृति के विविध रूपों का संमावेश हो गया। स्वयं महात्मा सूरदास का अधिकाश जीवन कालिन्दी के कूल एवं व्रजभूमि मे व्यतीत हुआ था, जिस भूमि के आकर्पण मे विंधे रसखान उसका चिर सामीप्य पाने की अभिलाषा

जिससे वह शुद्ध रूप मे प्रकृति का आलम्बन के रूप मे वर्णन नही माना जा सकता—

वोले तमचुर चार्‌यौ जामकौ गजर मार्‌यौ,
पौन भयौ सीतल, तमि तै तमता गयी ।
प्राची अरुनानी, भानु किरनि उज्यारी नभ छाई,
उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई ॥
मुकुले कमल, वच्छ वंधन विछोह्यौ ग्वाल,
चरै चली गाइ, द्विज पँती कर कौ दई ।
सूरदास राधिका सरस वानी वोलि कहै,
जगो प्रान प्यारे जू सवारे की समै भई ॥[1]

सूर-काव्य मे कृष्ण की लीलाओं और गोपियों की विप्रलम्भ भावना के साथ-साथ प्रकृति के शतशः संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होते है । अधिकांश रूप कोमल हैं। जिस प्रकार पुरुप रसों मे सूर की वृत्ति नही रमती, उसी प्रकार प्रकृति के पुरुष चित्र भी उनकी रचना मे अधिक नही पाये जाते । उनकी प्रकृति मूलत. कोमल एवं आनन्दमय है । फिर भी प्रकृति के कुछ उग्र चित्र उनके काव्य मे अंकित हुए हैं । निम्नलिखित पद में उमड-घुमड कर छा जाने वाली मेघ-घटाओ का वर्णन निस्सन्देह सुन्दर वन पडा है । पर इस वर्णन के द्वारा भी कवि ने भगवान कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को उँगली पर उठाने मे उनकी शक्ति का परिचय तथा देवराज इन्द्र का गर्व चूर्ण करने का भाव भी समाया है—

माधौ महा मेघ घिरि आयौ ।
घर को गाइ वहोरौ मोहन, ग्वालन टेरि सुनायौ ॥
कारी घटा सुधूम देखियत, अति गति पवन चलायौ ।
चारौ दिसा चितै किन देखहु, दामिनी कौधा लायौ ॥
अति घनस्याम सुदेस सूर प्रभु, कर गहि सैल उठायौ ।
राखे सुखी सकल व्रजवासी, सुरपति गरव नवायौ ॥[2]

वन-दहन का वर्णन सम्भवतः सूर-काव्य मे आलम्बन रूप में प्रकृति-

१. वही, पद २६५६ ।
२. सूरसागर सभा, पद १४८६ ।

चित्रण के अभाव की शिकायत को दूर कर सके। इस पद मे कवि ने वर्णन शैली एवं अनुप्रास की छटा तथा नाद सौन्दर्य के सहारे सजीवता एवं गति भर दी—

> भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
> घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर वन,
> धरनि अकास चहुँ पास छायौ ॥
> वरत वन वाँस थहरति कुस काँस जरि,
> उडत भाँस अति प्रवल धायौ।
> झपटि झपटि लपट, फूल-फल चटचटकि,
> फटत लटलटकि द्रुम द्रुम नवायौ ॥
> अति अगिनी-झार, भसार, धुँधार करि,
> उचटि अंगार अगार झकार छायौ।
> वरत वन पात, भहरात झहरात,
> अररात तरु महा, धरनी गिरायौ ॥[1]

सूर के समस्त पात्र प्रकृतिमय हैं। उनके हृदय का अध्ययन सूर द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक वर्णनों मे और सुगम बन गया है और उसका रूप भी अधिक निखर उठा है। उनके पात्र प्रकृति के चिर साहचर्य के कारण उससे इतने एकरूप हो गये है कि घटनाओं की प्रतिक्रिया किस पर पहले होती है, यह बताना सहज नही। उनके पात्रो की मनोदशाओ के वर्णन मे प्रकृति के विभिन्न रूपो एव व्यापारों का अनायास ही समावेश हो गया है। भगवान् कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के वर्णन मे भी प्रकृति से उपमाएँ एव उत्प्रेक्षाएँ उपमान लेकर हमारे कवि ने भक्तो की सहज प्रणाली का अनुगमन किया है। कृष्ण के रूप-लावण्य को कवि द्वारा प्रस्तुत निम्न रूपक मे देखिए जिसमे वस्तुस्थितियो के द्वारा कवि ने प्रकृति-रूप सौन्दर्य की गतिशील व्यजना प्रस्तुत की है और वह सुन्दरता का सागर अपने सहज सौन्दर्य भाव से तरंगित हो उठा है—

> देखो भाई सुन्दरता को सागर।
> बुद्धि विवेक वल पार न पावत, मगन होत मन नागर ॥

---

१. वही, पद १२१४।

मे पशु, पक्षी, पाहन तक बनने की अपनी अभिलाषा व्यक्त कर चुके है, फिर व्रज-भूमि तो सूर की अपनी ही जन्म-भूमि थी और उस भूमि के प्रति अपने अनन्य प्रेम को उन्होने अभिव्यक्त भी किया है—

कहाँ सुख व्रज का-सा ससार ।
कहाँ सुखद वंसी वट जमुना, यह मन सदा विचार ।।
कहँ वन धाम कहाँ राधा सग, कहाँ सग व्रज वाम ।
कहँ रस रास बीच अन्तर सुख, कहाँ नारि तन ताम ।।
कहाँ लता तरु-तरु प्रति बूझनि, कु ज-कुंज नव धाम ।
कहाँ विरह सुख विन गोपिन सग, सूर स्याम मन काम ।।[१]

सूरदास का प्रकृति वर्णन सर्वथा मौलिक है क्योकि उनसे पूर्व हिन्दी साहित्य में प्रकृति चित्रण का इतना विशद वर्णन नही मिलता । "हिन्दी काव्य में प्रकृति का पहला विशद वर्णन सूर काव्य मे मिलता है ।"[२] सूरदास ने प्रकृति का वर्णन निम्नलिखित रूप मे किया है—

१. प्रकृति का विषयात्मक चित्रण,
२. प्रकृति का अलंकृत चित्रण,
३. प्रकृति के कोमल एवं भयकर रूप,
४. प्रकृति मानव क्रिया-कालाप की पृष्ठभूमि और
५. अलकारो के रूप मे प्राकृतिक दृष्यो का प्रयोग ।

सूर के समस्त पात्र प्रकृतिमय है । प्रकृति के चिर साहचर्य के कारण उनके रूप-वर्णन मे भी प्रकृति-चित्रण का समावेश हो गया है। डॉक्टर रामरतन भटनागर के शब्दों में, "सूर काव्य प्रकृति में डूबा हुआ है । कृष्ण का विकास जैसे व्रज की प्रकृति मे होता है, उसी प्रकार सूर साहित्य का विकास भी व्रज-प्रकृति की छाया मे ही होता है । व्रज की प्रकृति ने उन्हे केवल उपमाओ एव उत्प्रेक्षाओ के लिए ही सामग्री नही दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र मे प्रतिष्ठित हुई है ।"[३] इतना अवश्य मानना होगा कि सूरदास ने अपने चरित्र-

---

१. सूरसागर सभा, पद ४०३४ ।
२. सूर साहित्य की भूमिका · डॉक्टर रामरतन भटनागर एव वाचस्पति त्रिपाठी, पृष्ठ २१० ।
३. वही, पृष्ठ २११ ।

नायक—आराध्य देव को अलग रखकर उसकी लीला-भूमि का कही भी चित्रण नहीं किया है। मूलतः सूरदास ने प्रकृति को उद्दीपन रूप मे ही ग्रहण किया है। उनके काव्य मे उनके पात्र और व्रजमण्डल एव उसकी प्रकृति मिलकर एकात्म हो गये हैं। डॉक्टर व्रजेश्वर वर्मा के शब्दों मे, "प्रकृति चाहे उपमान वनकर आये, चाहे चित्रो की पृष्ठभूमि के निर्माण मे उसका उपयोग हो, उसका अवलोकन सूरदास कृष्ण-प्रेम से रंजित दृष्टि द्वारा ही कर सकते हैं। प्रभात इसलिए सुन्दर है कि उस वेला मे श्रीकृष्ण जागते हैं। प्रभात मे विकसित होते हुए कमल के अर्धोमिलित नेत्रो का सुखद स्मरण दिलाते है, कलरव करते हुए खगवृन्द कृष्ण की विरुदावली-सी गाते हुए जान पडते हैं, विकसित कमलों पर मँडराते हुए गुंजायमान भ्रमरो के झुण्ड कृष्ण-प्रेम मे उन्मत्त उनका गुण-गान करने वाले सेवको जैसे लगते हैं। जिस प्रकार अरुण उदय होकर अन्धकार को विदीर्ण कर देता है, उसी प्रकार कृष्ण के जागने से समस्त दुःख-दैन्य, द्वन्द्व-भ्रम, मत्सर-मद दूर हो जाते हैं और चारों ओर आनन्द का प्रकाश हो जाता है।"[1] सूरदास मे प्रकृति के शुद्ध वर्णन का अभाव है, वह किसी-न-किसी रूप में पूर्वापर सम्वन्ध द्वारा श्रीकृष्ण की लीलाओ से जुडा है। प्रातःकाल के इस वर्णन को देखिए जो शुद्ध वर्णन होते हुए भी भगवान कृष्ण से सम्वन्ध-विच्छेद नही कर पाया है—

जागिए, व्रजराज कुँवर, कमल कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द सकुचित भये, भृंग लता भूले॥
तमचुर खग रोर सुनहु, वोलत वनराई।
राँभति गो खरिकनि मे, वछरा हित धाई॥
विधु मलीन रवि प्रकास, गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठो, अम्बुज कर धारी॥[2]

प्रकृति के इस वर्णन को भी देखिए जिसे आलम्वन रूप के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है, पर उनका सम्वन्ध कृष्ण के साथ फिर भी जुड़ा हुआ है,

---

१ सूर मीमासा : डॉक्टर व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ १९२-९३।
२. सूरसागर सभा, पद ७२०।

जिससे वह शुद्ध रूप मे प्रकृति का आलम्बन के रूप मे वर्णन नही माना जा सकता—

> वोले तमचुर चार्‌यौ जामकौ गजर मार्‌यौ,
> पौन भयौ सीतल, तमि तै तमता गयी ।
> प्राची अरुनानी, भानु किरनि उज्यारी नभ छाई,
> उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई ॥
> मुकुले कमल, वच्छ वंधन विछोह्यौ ग्वाल,
> चरै चली गाइ, द्विज पँती कर कौ दई ।
> सूरदास राधिका सरस वानी वोलि कहै,
> जगो प्रान प्यारे जू सवारे की समै भई ॥[1]

सूर-काव्य मे कृष्ण की लीलाओ और गोपियों की विप्रलम्भ भावना के साथ-साथ प्रकृति के शतश: संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होते है । अधिकांश रूप कोमल है। जिस प्रकार पुरुप रसो मे सूर की वृत्ति नही रमती, उसी प्रकार प्रकृति के पुरुष चित्र भी उनकी रचना मे अधिक नही पाये जाते । उनकी प्रकृति मूलतः कोमल एवं आनन्दमय है । फिर भी प्रकृति के कुछ उग्र चित्र उनके काव्य मे अकित हुए है । निम्नलिखित पद मे उमड़-घुमड कर छा जाने वाली मेघ-घटाओ का वर्णन निस्सन्देह सुन्दर वन पडा है । पर इस वर्णन के द्वारा भी कवि ने भगवान कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को उँगली पर उठाने मे उनकी शक्ति का परिचय तथा देवराज इन्द्र का गर्व चूर्ण करने का भाव भी समाया है—

> माधौ महा मेघ घिरि आयौ ।
> घर को गाइ वहोरी मोहन, ग्वालन टेरि सुनायौ ॥
> कारी घटा सुधूम देखियत, अति गति पवन चलायौ ।
> चारौ दिसा चिते किन देखहु, दामिनी कौंधा लायौ ॥
> अति घनस्याम मुदेस सूर प्रभु, कर गहि सेत उठायौ ।
> राखे मुख्री सकल ब्रजवासी, सुरपति गरव नवायौ ॥[2]

वन-दहन का वर्णन सम्भवतः सूर-काव्य मे आलम्बन रूप मे प्रकृति-

---

१. वही, पद २६५९ ।
२. सूरसागर सभा, पद १४८६ ।

चित्रण के अभाव की शिकायत को दूर कर सके। इस पद में कवि ने वर्णन शैली एवं अनुप्रास की छटा तथा नाद सौन्दर्य के सहारे सजीवता एवं गति भर दी—

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर वन,
धरनि अकास चहुँ पास छायौ ॥
वरत वन वाँस थहरति कुस काँस जरि,
उड़त भाँस अति प्रवल धायौ।
झपटि झपटि लपट, फूल-फल चटचटकि,
फटत लटलटकि द्रुम द्रुम नवायौ ॥
अति अगिनी-झार, भसार, धुँधार करि,
उचटि अंगार अंगार झकार छायौ।
वरत वन पात, भहरात झहरात,
अररात तरु महा, धरनी गिरायौ ॥[1]

सूर के समस्त पात्र प्रकृतिमय हैं। उनके हृदय का अध्ययन सूर द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक वर्णनो मे और सुगम वन गया है और उसका रूप भी अधिक निखर उठा है। उनके पात्र प्रकृति के चिर साहचर्य के कारण उससे इतने एकरूप हो गये है कि घटनाओं की प्रतिक्रिया किस पर पहले होती है, यह वताना सहज नही। उनके पात्रों की मनोदशाओ के वर्णन मे प्रकृति के विभिन्न रूपों एव व्यापारो का अनायास ही समावेश हो गया है। भगवान् कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के वर्णन मे भी प्रकृति से उपमाएँ एव उत्प्रेक्षाएँ उपमान लेकर हमारे कवि ने भक्तो की सहज प्रणाली का अनुगमन किया है। कृष्ण के रूप-लावण्य को कवि द्वारा प्रस्तुत निम्न रूपक मे देखिए जिसमे वस्तुस्थितियो के द्वारा कवि ने प्रकृति-रूप सौन्दर्य की गतिशील व्यजना प्रस्तुत की है और वह सुन्दरता का सागर अपने सहज सौन्दर्य भाव से तरंगित हो उठा है—

देखो भाई सुन्दरता को सागर।
वुद्धि विवेक वल पार न पावत, मगन होत मन नागर ॥

---

१. वही, पद १२१४।

तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि, कटि पट-पीत तरग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भँवर परत अग अंग ॥
मीन नैन मकराकृत कुण्डल भुज वत सुभग भुजग।
मुकुत-माल मिति मानो सुरसुरि द्वै सरिता लिये सग ॥
मोर मुकुट मनिगन आभूषन कटि किंकिन नखवन्द।
मनु अडोल वारिध मे विवत राका उडगन वृन्द ॥
वदन चन्द्र मण्डल की सोभा अवलोकत सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियो ससि श्री अरु सुधा समेत ॥
देखि सुरूप सकल गोपी जन रही निहारि निहारि।
तदपि 'सूर' तरि सकी न सोभा रही प्रेम पचि हारि ॥[1]

इस तरह हमारे कवि ने वडी सफलतापूर्वक प्रकृति के माध्यम से अपने आराध्य देव की शोभा का विस्तृत वर्णन किया है। एक और उदाहरण भी देखिए—

देखो भाई रूप सरोवर साज्यो।
व्रज वनिता वार वारि वृन्द मे श्री व्रजराज विराज्यो ॥
लोचन जलज मधुप अलकावलि कुण्डल मीन सलोल।
कुच चक्रवाल विलोकि वदन विधु विहरि रहे अनमोल ॥
मुक्ता-माल वाल वग पगति करत कुलाहल कूल।
सारस हंस मध्य शुक सेना वैजयंति समतूल ॥
पर इन कपिश निचोल विविध रंग विहँसत सचु उपजावै।
मूर स्याम आनन्द कन्द की शोभा कहत न आवै ॥[2]

मूरदास मे दृष्टिकूट पदो में ही नहीं अन्य पदो मे भी रहस्यानुभूति विपयक प्रकृति-चित्रण मिलता है। एक उदाहरण लीजिए—

चलि सखि तिहि सरोवर जाहि।
जिहि सरोवर कमल कमला, रवी विना विकसाहि ॥
हस उज्ज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहि।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि चुनि खाहि ॥

---

१ मूरसागर सभा, पद १२४६।
२. वही, पद १६६७।

अतिहि मगन महा मधुर रस, रस न मध्य नसाहिं।
पद्म बास सुगन्ध सीतल, लेत पास नसाहिं ॥
सदा प्रफुल्लित रहे जल बिनु निमिष कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उनपर भौंरि हू बिरमाहिं ॥[1]

सूर का प्रयोजन कृष्ण की लीला-भूमि और उसकी प्रकृति का वर्णन है। उन्हें नीति एवं दर्शन से थोड़ा भी लगाव नही। उन्होंने प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों को नीति और दर्शन के आघात से खण्डित नही किया। सूरदास का हृदय प्रकृति की ओर नैसर्गिक रूप से जाता है, उन्हे दर्शन, नीति एव धर्म के माध्यम की आवश्यकता नही। सूरदास की राधा एवं यशोदा की तरह सूर की प्रकृति भी संयोग एवं वियोग मे पूर्णतः वियोग भाव मे डूबी दिखायी देती है। पर वियोग मे उसका रूप अधिक निखर आया है क्योकि तब वह हमारे हृदय के अधिक निकट आ जाती है। व्रज की प्रकृति गोपियों के हृदय का दर्पण है। कृष्ण की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति का प्रभाव जिस प्रकार गोपियों पर पड़ता है, उसी प्रकार व्रज की प्रकृति पर भी। सूर की संयोग लीलाएँ प्रकृति के साथ जुडी हुई हैं तो वियोग के क्षणों मे भी उनकी प्रकृति पात्रों के अनुरूप ही भावप्रवण होने के नाते अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति किये बिना नही रहती।

सयोग सुख का एक वर्णन देखिए कि राधा-कृष्ण के मिलन के समय प्रकृति किस तरह उसके उपयुक्त वातावरण निर्माण करती है। राधा-कृष्ण का मिलन मुहूर्त समीप आ रहा है और देखते ही देखते गगन घहरा उठता है, काली घटाएँ छा जाती है, पवन झकझोरे लेने लगता है, आकाश श्यामवर्ण हो जाता है, दोनों रोमांचित हो उठते हैं, और—

नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
नयौ पितम्बर, नयी चूनरी, नयी नयी बूँदन भीजत गोरी ॥
नये कुंज अति पुंज नये द्रुम, सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।
सूरदास प्रभु नव रस बिलसत, नवल राधिका जोवन भोरी ॥[2]

---

१. वही, पद ३३८।
२ सूरसागर सभा, पद १३०२, १३०३।

अव वियोग पक्ष का एक उदाहरण लीजिए कि किस तरह कान्हा के अभाव मे आनन्ददायिनी चाँदनी सर्पिणी-सी वनकर विरहिन को डसने को दौडती है—

पिय विनु नागिन कारी रात ।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उल्टी व्है जात ।।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीत सिरानी जात ।
सूर स्याम विनु विकल विरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात ।।[1]

उपरोक्त प्रकृति-वर्णन के उपरान्त डॉ० व्रजेश्वर वर्मा का यह मत कि "कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग केवल अपनी भावना और कल्पना को सजग और मूर्त्त करने मे किया है, अतः प्रकृति-चित्रण की विविधता उसके काव्य मे नही मिल सकती।"[2] उचित प्रतीत नही होता क्योकि सूर का समस्त काव्य प्राकृतिक वर्णन से प्लावित दिखायी देता है।

१. सूरसागर सभा, पद ३८९० ।
२. सूरदास : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ४९८

नवम अध्याय

सूर के भ्रमर गीत की विशेषताएँ

भ्रमर गीत सूरसागर का मुख्य रत्न है जिसके अभाव मे सागर का रत्नाकर स्वरूप कुछ फीका पड जाता। भाव, भाषा तथा कलात्मकता की दृष्टि से भी सूरसागर का यह अंश अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भ्रमर गीत से काव्य एवं दार्शनिक पक्षो की पुष्टि होती है। काव्य और रस की दृष्टि से सूरसागर का यह अंश व्यंजना, माधुर्य एव वियोग-विप्रलम्भ शृंगार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के सैतालीसवे अध्याय मे १२ से लेकर २१ श्लोक तक, केवल दस श्लोकों में भ्रमर गीत का प्रसंग आया है।

सूरदास ने तीन भ्रमर गीत लिखे है। पहला भ्रमर गीत दोहा-चौपाइयो मे है। काव्य की दृष्टि से उसका विशेप मूल्य नही और यह श्रीमद्भागवत का अनुवाद है, फिर भी उसमे ज्ञान-वैराग्य की चर्चा होते हुए भी अन्त मे भक्ति की विजय दिखाई गयी है।

दूसरा भ्रमर गीत संक्षेप मे है जो सूरसागर दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध मे एक ही पद (४७११) मे सीमित है। उसके आरम्भ में लिखा है—**उद्धव-आगमन, भ्रमर गीत संक्षेप।**[1]

सूरदास के तीसरे भ्रमर गीत की निजी विशेपता है और वह सूर सागर का अनुपम भावरत्न है जिसमे सूर की मौलिक उद्भावना का सुन्दर परिचय मिलता है। यह सूरसागर दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के पद ४०२६ से आरम्भ होता है और पद ४७०६ पर समाप्त होता है।[2]

सूरदास के भ्रमर गीत का प्रेमाभक्ति—कान्ताभक्ति के वियोग पक्ष के अन्तर्गत भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, जहाँ हम गोपियों के विरह-विदग्ध रूप

---

१ सूरसागर, पृष्ठ १६१६-२०।
२. सूरसागर, पृष्ठ १४११-१६१६।

को देखते है और विरह की विभिन्न अवस्थाओ का सागोपाग वर्णन पाते है और हम गोपियों की अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्यधि, जडता एव मूर्छा के प्रसंगों का वडा ही स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक चित्र उसमे पाते है ।

एक ओर जहाँ भ्रमर गीत का प्रेमाभक्ति के वियोग पक्ष के अकन की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है, वहाँ दूसरी ओर उसमे सूरदास की निज मनोभावनाओ एवं सिद्धान्तो का भी समावेश हो गया है और सूरदास ने एक कुशल आचार्य की तरह अपने मतों की प्रतिष्ठापना की है। सूर ने ज्ञान पर प्रेम की और योग पर भक्ति की विजय-पताका फहराकर निर्गुणोपासना पर सगुणोपासना की स्थापना की है ।

सूरदास एक परमभक्त के रूप में हमारे सामने अपनी मनोदशाओं का वर्णन करते हुए उपस्थित होते हैं। वह पुष्टि मार्ग की शुद्ध पुष्ट भक्त की सीमा मे आते है, जहाँ भक्त नित्य भगवान के स्वरूप मे विलीन, उससे मिलनानन्द की अनुभूति करता उसकी लीलाओं मे लीन रहता है। उसका भाव जगत् इतना विस्तृत हो जाता है कि सम्पूर्ण जगत् उसमे समा जाता है और विशुद्ध प्रेम की तन्मयावस्था का नित्य अनुभव करता हुआ भगवान की लीलाओं का गान करता है। लीलाओ की प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा काल्पनिक अनुभूति की तीव्रता के कारण उसकी रचना मे हृदय की स्वाभाविकता एवं साहजिकता आ जाती है, जिसमे औरो को प्रभावित करने की अदमनीय शक्ति होती है और वे भावनाएँ अपनी सम्प्रेषणीयता का परिचय दूसरो को प्रभावित कर भाव साम्य की स्थिति मे लाकर देती हैं जैसा कि सूर की गोपियो की भावनाओ से प्रभावित होकर उद्धव यह महसूस करता है—

मैं व्रजवासिन की वलिहारी ।
जिनके संग सदा क्रीडत है, श्रीगोवर्धन-धारी ॥
किनहूँ कै घर माखन चोरत किनहूँ के घर दानी।
किनहूँ कै संग धेनु चरावत, हरि की अकथ कहानी ॥
किनहूँ कै सग जमुना कैं तट, वंसी टेर सुनावत ।
सूरदास वलि वलि चरनन की, यह सुख मोहि नित भाावत[१]

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्व-पूर्वार्द्ध, पद ४६७१ ।

सूरदास ने उद्धव को ज्ञान के श्रेय मे तर्क-वितर्क से नही हराया। नन्ददास की गोपियाँ तार्किक है और वे उद्धव से मायावाद, ब्रह्मवाद पर तर्क-वितर्क कर उठती हैं, किन्तु सूरदास की गोपियाँ रस पगी हैं और वे मात्र अपनी मानसिक भावनाओ की सहज अभिव्यक्ति मे विश्वास रखती है। वे अपने स्वभावगत आचरण को ही श्रेय देती हैं और उद्धव से अपने मन की वात कहने मे हिचकती नही। वस यह मन की वात वह निश्छल, निष्कपट अभिव्यक्ति है जो आत्मा की सवलता की परिचायक है और आत्मा की यही सवलता उद्धव के ज्ञान गर्व को परास्त कर देती है; जिसका आधार ही तर्क है और जिसे तर्क से पाया जा सकता है, उसे तर्क से खोया भी जा सकता है। किन्तु जो अनुभूत ज्ञान है वह तर्क-वितर्क के चक्र मे पड़ता ही नही और तर्क-वितर्क उसे विचलित भी नही कर सकते। यही कारण है कि इतना ज्ञानी उद्धव जिसे छहो शास्त्रो पर अधिकार प्राप्त था, अपनी ज्ञान-गरिमा से गोपियों को तनिक भी विचलित करने मे समर्थ नही होता।

गोपियो ने तो उसे पल भर के लिए भी अपने से अलग नही माना, अत. वे उद्धव से कहती है कि वाह्य कर्मकाण्ड की भावना से भगवान की प्राप्ति नही हो सकती और फिर योग-साधना सभी के लिए साध्य भी तो नही होती। भक्ति राजपथ है जिस पर कोई भी जीव श्रद्धा एवं विश्वास की डोर पकड कर चल सकता है, जहाँ कि योग सर्वसाधारण के लिए साध्य नही। उद्धव जव गोपियों को योग की शिक्षा देता है, तव गोपियाँ अपने शरीर की सुकुमारता दर्शाकर अपने को योग के अयोग्य वताती हैं—

ऊधौ जोग जोग हम नाही।
अवला सार-ज्ञान कह जानै, कैसै ध्यान धराही ॥[१]

और वे अपने प्रेम भाव को सहज स्वभावगत वताती है, जिस पर सर्वसाधारण का अधिकार है। जोग की शिक्षा योग्य व्यक्ति को ही देना उचित भी है—

ऊधौ जोग जोगहि देहु।
हम अवुद्धि कह जोग जानै, सपथ हम सौ लेहु ॥

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध, पद ४५४२।

चन्द उदय चकोर चाहै, मोर चाहै मेहु ।
हमहुँ चाहैं मदन मूरति, स्याम संग सनेहु ।।[१]

उद्धव को तो पछतावा होना चाहिए कि उसने अपात्र के समक्ष योग शिक्षा का सिद्धान्त रखकर अपनी अयोग्यता का परिचय दिया है—

ऊधौ सुनहु नैकु जो वात ।
अवलनि कौ तुम जोग सिखावत, कहत नही पछतात ।।[२]

गोपियो को इस वात पर विश्वास ही नहीं आता कि श्याम उन्हें इस प्रकार का सन्देशा भेज सकते हैं। जो गोपियो के प्रत्येक भाव को पूर्ण रूपेण जानते है, वह गोपियों को ऐसी शिक्षा कैसे दे सकते हैं ? कही उद्धव मार्ग भूलकर तो यहाँ नही आ गया ? शायद ऐसी ही वात हो। अतः वे उससे कहती है—

ऊधौ जाहु तुमहिं हम जाने ।
स्याम तुमहिं ह्याँकौं नहिं पठयौ, तुम हौ वीच भुलाने ।।
ब्रजनारिन सौं जोग कहत हौ, वात कहत न लजाने।
वड़े लोग न विवेक तुम्हारे, ऐसे भये अयाने ।।
हमसौं कही लई हम सहिकै, जिय गुनि लेहु सयाने ।
कहँ अवला कहँ दसा दिगम्वर, भष्ट करौ पहिचाने ।।
साँच कहौ तुमकौं अपनी सौं, वूझति वात निदाने ।
सूरस्याम जव तुमहिं पठायौ, तव नैकहुँ मुसकाने ।।[3]

लोग वनावनाया वेवकूफ पाकर हँसते भी हैं और हँसने के लिए वेवकूफ वनाते भी हैं। गोपियो ने अन्तिम पंक्ति मे यह कह कर कि "क्या श्याम तुम्हें भेजते समय कुछ मुसकाये थे ?" मे यह व्यजित कर दिया है कि श्याम ने तुम वेवकूफ को हम लोगो की अवस्था मे परिवर्तन हेतु यहाँ भेजा है, ताकि इस चिर रुदन मे हमे मुस्कराने का अवसर ही मिल जाय—

---

१. वही, पद ४५४१ ।
२. वही, पद ४५४० ।
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध, पद ४१३६ ।

ऊधौ भली करी ह्याँ आये ।
ये वातें कहि कहिया दुख मे व्रज के लोग हँसाए ॥[1]

और वे उद्धव को अपनी अनुपम वस्तु योग को सम्भालकर रखने का सन्देश देती हैं, ताकि कही वह खो न जाय—

ऊधौ जोग विसरि जनि जाहु ।
वाँधौ गाँठि छूटि परिहै कहुँ, फिर पाछे पछिताहु ॥
ऐसी वहुत अनूपम मधुकर, मरम न जानै और ।
व्रज वनितन के नही काम की, है तुम्हरे ई ठौर ॥
जो हित करि पठ्यौ मनमोहन, सो हम तुमकौ दीनौ ।
सूरदास ज्यौं त्रिप्र नारियर, कर हो वन्दन कीनौ ॥[2]

उद्धव के पास भला इन सहजोक्तियों के लिए क्या उत्तर था ? गोपियाँ उद्धव के प्रति अपनी व्यंग्यात्मक सहानुभूति का प्रदर्शन भी करती हैं—

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे ।
रथ चढाइ हरि संग गये लै, मथुरा जवै सिधारे ॥
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अतिरुचि कै तुम ल्याये ।
हम तो भकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाये ॥[3]

उद्धव जव गोपियों को निर्गुणोपासना की साधना के लिए प्रेरित करता है, तव वे निर्गुण का परिचय पूछने लगती है । इसमे स्वभावगत व्यंग है—

रेख न रूप वरन जाके नहिं ताकों हमैं वतावत ।
अपनी कहौ दरस वैसे कौ तुम कवहूँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो पुनि गोधन वनवन चारत ?
नैन विसाल भौंह वकट करि देख्यौ कवहु निहारत ?
तन त्रिभग करि नटवर वपु धरि पीताम्वर तेहि सोहत ?
सूर स्याम ज्यौं देत हमैं सुख, त्यौं तुमको सोऊ मोहत ॥[4]

वे तो पूरी तरह उद्धव को आड़े हाथों लेती हैं । उद्धव विचारा निर्गुण

---

१. वही, पद ४४०० ।
२. वही, पद ४४२७ ।
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध, पद ४३३७ ।
४. वही भ्रमर् गीत सार, पद १३१ ।

निराकार का भला क्या पता वताता ? गोपियाँ जहाँ अपने मन मे श्याम की मधुर छवि को वसा वैठी है, वहाँ वे निर्गुण को भी उसी रूप-रग में देखने की अपनी सम्भावना व्यक्त करती है और कान्हा की सम्पूर्ण विशेषताओं का आरोप निर्गुण पर किया जा सकता है या नही, यह पूछने के साथ उद्धव से यह भी तो पूछ लेती है कि क्या वास्तव मे उसने भी उसे देखा है या नही ? यहाँ वास्तव मे ज्ञान को चुनौती है। ज्ञान से तर्क के द्वारा उसका स्वरूप निर्धारित भले ही किया जा सके, पर अनुभूति का वहाँ नितान्त अभाव रहता है, जहाँ कि भक्त अज्ञानावस्था मे भी उसको अनुभव द्वारा गम्य पाता है। विचारा उद्धव निरुत्तर रह जाता है। गोपियाँ तो उद्धव से नाम के साथ निर्गुण का गाम भी पूछ लेना चाहती है, ताकि कही आवश्यकता पडे तो उसे बुलाया जा सके या उसके पास जाया जा सके—

निरगुन कौन देस कौ वासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी ॥
कोहै जनक, कौन है जननी, कौन नारी, को दासी ?
कैसे वरन, भेप है कैसी, किहिं रस मे अभिलाषी ?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे करैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ वावरौ, सूर सवै मति नासी ॥[1]

उद्धव के इतने आग्रह को शायद गोपियाँ न टालती, पर वे भी क्या करे, मजवूर ही तो है कि उन्हे एक ही मन मिला था और वह स्याम के सग चला गया, अन्यथा वे एकाध उद्धव के ईश को भी समर्पण कर देती—

ऊधौ मन न भए दस वीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को आराधै ईस ॥[2]

गोपियाँ स्याम रँग मे रँगी हुई है, उन पर अव और रंग क्या चढेगा ? काला रंग सव पर चढ सकता है, काले पर दूसरा रंग चढाया जाना सम्भव नही है—

सूरदास जो रंगी स्याम रग फिरि न चढत अव राते।[3]

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध, पद ४२४९।
२. वही, पद ४३४४।
३. वही, पद ४१६५।

प्रमी विह्वल होता है, वह ज्ञान की कथा सुनकर भी क्या करे ? वह सव सह सकता है परोक्ष नही सह सकता। गोपियाँ भी ज्ञान-वार्ता मे कोई रस नहीं लेती वे, उद्धव से कहती है—

हमकौ हरि की कथा सुनाउ।
ये अपनी ज्ञान गाथा अलि, मथुरा ही ले जाउ ॥[१]

गोपियों को ज्ञान समझ मे ही नही आता और उन्हे उसके समझने की आवश्यकता भी क्या है ? इतना वे अवश्य समझ गयी है कि उद्धव क्या कहना चाहता है ? किन्तु वे अपने प्रेम को किसी मूल्य पर परित्याग करने को प्रस्तुत नही। यह जानते हुए भी कि प्रेम के साथ विरह जुडा है और विरह की अन्तिम दशा मरण है अथवा प्रेम की अन्तिम दशा मरण है, प्रेमी मरने की चिन्ता ही नही करता—

ऊधौ ! प्रीति न मरन विचारै।
प्रीति पतग करै पावक परि, जरत अग नहिं टारै ॥
प्रीति परेवा उडत गगन चढि, गिरत न आप सम्हारै।
प्रीत मधुप के तकी कुसुम वसि कटक आयु प्रहारै ॥
प्रीति जानु जैसे पय पानी, जानि अपनपौ जारै।
प्रीति कुरंग नाद रस लुव्धक, तानि तानि सर मारै ॥[२]

और वे उद्धव को प्रेम दशा से अपरिचित होने के कारण दोष भी तो नही दे सकती ; मात्र उसे इतना वता देना चाहती है कि "प्रेम विथा सोइ पै जानै जापै वीती होई।" और गोपियाँ उद्धव को निज उपचार करने की शिक्षा देती है—

आपुन कौ उपचार करौ कछु तव औरनि सिख देहु।

उद्धव गोपियो के प्रेम भाव से प्रभावित होकर अपनी हार को स्वीकार करता हुआ भी आनन्दित है—

अव अति चकितवन्त मन मेरौ।
आयौ हो निरगुण उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ ॥

१ सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, पद ४२३६।
२ वही, भ्रमर गीत सार, पद १२१।

जो मैं ज्ञान कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परस्यो नेरौ ।।
अति अज्ञान कछु कहत न आवै, दूत भयौ हरि केरौ ।।
निज जन जानि मानि जतननि तुम, कीन्हौ नेह घनेरौ ।
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग को बेरौ ।।[1]

---

१. वही, पद ४६९७ ।

दशम अध्याय

सूर का कला पक्ष

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र मे कला को दो वर्गो मे विभाजित किया गया है—उपयोगी कलाएँ (useful arts) और ललित कलाएँ (fine arts)। ललित कला के पाँच भेद किये गये हैं—वास्तुकला (architecture), मूर्ति-कला (sculpture), चित्रकला (painting), सगीत (music) और साहित्य (literature)।

कला की कसौटी पर साहित्य सर्वश्रेष्ठ कला माना गया है। साहित्य कला होते हुए भी मात्र कलात्मक पहलू से अध्ययन करने की चीज नही है। इसमे सन्देह नही कि अभिव्यक्ति की कुशल कला ही काव्य है,[1] किन्तु अभिव्यक्ति के मूल मे जो प्रेरणात्मक स्रोत है उसके प्रति दुर्लक्ष्य नही करना चाहिए। कला अगर कलेवर है तो भाव आत्मा, अतः काव्य कला मे भाव पक्ष एवं कला पक्ष को सन्तुलित रूप से अपनाने मे ही काव्य की शोभा वढ़ती है, दोनो एक दूसरे के पूरक वनकर साहित्य को शाश्वतता प्रदान करते है।

सूर साहित्य का प्रधान स्वर उसकी भक्ति भावना है। सूर ने साहित्य की साधना कला के उद्देश्य से नही की। सूर का साहित्य उसकी भक्ति भावना का साधन मात्र है, अत. यह स्वाभाविक है कि उसमे कला पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष पर ही कवि का दृष्टिकोण केन्द्रित रहा हो। सूर ने कृष्ण के जीवन को लेकर भी प्रवन्ध रचना नही की। इतना विशाल काव्य ग्रन्थ होते हुए भी सूरसागर कवि का प्रवन्व काव्य नही माना जा सकता। यह वात सूर जैसे भावुक कवि के लिए सम्भव भी नही थी। प्रवन्धात्मकता मे वन्धन का निर्वाह अनिवार्य होता है और सूर जैसे भक्त

१. साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला", पृष्ठ १०७। क्रोचे के मत से तुलना कीजिए—"Expression is Art".

उपमानो का चुनाव किया था। सूर पढे-लिखे न थे, वहुश्रुत अवश्य थे। उन्होने जगत् को देखा भी होगा तो वहुत अल्प काल तक, अपने वाल्य-काल मे जवकि अनुभूति अत्यन्त सीमित रहा करती है। अतः सूर ने ज्ञान के कण कही पाये थे तो लोक जीवन के सम्पर्क से और यही कारण है कि लोक जीवन के चिर परिचित उपमान उनके काव्य को दुरूह होने ही नही देते। एक-दो उदाहरण देखिए—

दूध दन्त दुति कहि न जाइ कछु, अद्भुत उपमा पाई।
किलकत हँसत दुरित प्रगटति मनु, घन में विज्जु छटाई ॥[1]

कान्हा की मुस्कान की ये उपमाएँ न केवल सौन्दर्य बोध में सहायक होती है अपितु सौन्दर्य सृष्टि भी करती हैं। शृंगार वर्णन की एक चमत्कार पूर्ण उपमा देखिए—

वदन-सुधा सरसीरुह लोचन, भृकुटी दोउ रखवारी।
मनौ मधुप मधु पानहिं आवत, देखि डरत जिय भारी ॥[2]

राधा के रूप वर्णन के अवसर पर दी गयी उपमाएँ मात्र सौन्दर्य वोध ही कराती हैं, सो वात नही, वे वर्णन को सजीव भी वना देती है। राधा के मुखचन्द्र पर लटकती लट को वेणी रूपी सर्पिणी की जिह्वा या फन मानते हुए मुख शशि की रूप सुधा पान की लालसा मे झुकता वताया गया है—

प्रथमहिं सुभग स्याम वेनी की सोभा कहौं विचारि।
मनौ रह्यौ पन्नग पीवन कौ ससि मुख सुधा निहारि ॥[3]

मालोपमा का एक उदाहरण देखिए जिसमे कवि ने उपमाओं की झडी लगा दी है—

स्याम गये राधा वस ऐसे।
चातक स्वाति, चकोर चन्द्र ज्यों, चक्रवाक रवि जैसे ॥

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध, पद ७२६।
२. वही, २४२७।
३. वही, २११४।

ज्यों चकोर वस सरद चन्द्र के, चक्रवाक वस भान ।
जैसे मधुकर कमल कोस वस, त्यों वस स्याम सुजान ।।[1]

उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए—

कहाँ लौ वरनौ सुन्दरताई ।
खेलत कुँवर कनक आँगन में, नैन निरखि छवि पाई ।।
कुलही लसत सिर स्याम सुभग अति, वहु विधि सुरग वनाई ।
मानहुँ नव घन ऊपर राजत, मघवा धनुप चढाई ।।
अति सुदेस मृदु चिकुर हरन मन, मोहन मुख वगराई ।
मानहुँ प्रकट कंज पर मजुल, अलि अवली फिरि आई ।।[2]

सूरदास ने रूपक एव परम्परित साग रूपक को भी रूप वर्णन के लिए अपनाया है । निम्न पद में कवि ने श्याम के शरीर की तुलना सागर से देते हुए साग रूपक का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

देखौ भाई सुन्दरता कौ सागर ।
वुद्धि विवेक वल पार न पावत मगन होत मन नागर ।।
तनु अति स्याम अगाध अम्वुनिधि कटि पटपीत तरंग ।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अग अग ।।
मीन नैन मकराकृत कुण्डल, भुजवल सुभग भुजंग ।
मुकुत माल मिलि मानौं सुरसरि, द्वै सरिता लिए सग ।।
मोर मुकुट मनिगन आभूपण, कटि किंकिन नख चन्द ।
मनु अडोल वारिधि मे विवित, राका उडगन वृन्द ।।
वदन चन्द्र मण्डल की सोभा, अवलोकन सुख देत ।
जनु जलनिधि मथि प्रकट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत ।।
देखि सुरूप सकल गोपीजन, रहीं निहारि निहारि ।
तदपि सूर तरि सकी न सोभा, रही प्रेम पचिहार ।।[3]

---

१ वही, पद २७५ ।

२. सूरसागर, ७२६ ।

३. वही, १२४६ ।

के लिए, जिसने अपने अस्तित्व को पूर्णतया अपने इष्ट मे समर्पित कर दिया था और जो निरन्तर ही एक भाव लोक मे विचरता रहा है, प्रबन्धात्मकता का निर्वाह कठिन होता। शायद उसकी आत्मा की आवाज दब जाती। सूर का सम्पूर्ण काव्य मुक्तक है। इन मुक्तक गीतों का पूर्वापर सम्बन्ध जोड कर हम भले ही उनमे प्रबन्धात्मकता का सूत्र टटोलने लगें, पर उनका प्रत्येक गीत अपने मे परिपूर्ण एक भाव जगत् का चित्र खडा कर देता है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता का उतना ही महत्त्व है जितना एक प्रबन्ध रचना का हो सकता है। श्रीकृष्ण के जीवन को श्रीमद्भागवत के आधार पर अपनाते हुए भी सूर ने अपनी स्वतन्त्र वृत्ति का परिचय दिया है। जहाँ उनका मन रमा है, उन्होने जमकर लिखा है और जहाँ मन नही लगा, उन स्थलो को मात्र परम्परा निर्वाह के लिए अपना कर चलता कर दिया है। यही कारण है कि सूरसागर के दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध इतना व्यापक एव विस्तृत है कि सम्पूर्ण सूरसागर की शेष रचनाएँ उसका आठवाँ भाग भी मुश्किल से होगी। यह कवि की भावुकता का परिचायक है। भावो मे एक सहज तीव्रता होती है जो कवि को या भावुक को वश मे रहने नही देती और वह उस भाव धारा का अकन किये विना रह ही नही पाता। भावना की यह तीव्रता ही उसकी सम्प्रेषणीयता बन जाती है और लेखक तथा पाठक एक साधारण भूमि पर आ जाते है जहाँ दोनो का लक्ष्य एक ही रहता है—आनन्दानुभूति। कवि अपने आत्मतत्व को संवेदनशीलता के कारण जगत के कण-कण मे बिखरा देता है, वह अपना आत्मविस्तार कर शरीर धर्म तक सीमित नही रह जाता और केवल निजानुभूति तक ही उसका क्षेत्र नही रह जाता, वह कण-कण के भाव को बडी सूक्ष्मता के साथ पढ लेता है और उसी के बल पर वह मनोभावो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र अंकित करने मे सफल होता है। प्रबन्ध काव्य एव महाकाव्य लिखने वाले कवि एव महाकवि के सामने कथानक के निर्वाह का प्रश्न रहता है और उसे अपनी भावनाओ को मर्यादित रखना पडता है, इसीसे वह कई ऐसे मार्मिक स्थलो को भी अछूता ही छोड जाता है, पर मुक्तककार के सामने एक भाव से अधिक कुछ नही होता। वह अपनी शक्ति से उतना विस्तार दे देना चाहता है, जिसके आगे उसकी दृष्टि मे पहुँचना सम्भव नही। तुलसीदास जैसे महाकवि भी रामचरित मानस मे अपनी भावुकता एव अपने भावुक हृदय

का उतना परिचय नही दे सके हैं जितना उन्होंने विनय पत्रिका, कवितावली एव कृष्ण गीतावली मे दिया है। तुलसी की प्रतिभा सर्वोमुखी रही है और सूर की एकमुखी और शायद यही कारण है कि सूर अपने हृदय की समस्त सवेदनशीलता एव भावुकता उसमें उतार सके है। सूर का क्षेत्र अत्यन्त परिमित था और इस परिमित क्षेत्र में इतनी ऊँची उडाने सूर के लिए ही सम्भव थी, तुलसी के लिए नही। व्यापक क्षेत्र में ऊँची उडान भरने के अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण जीवन को अपनाते समय जीवन के कुछ ऐसे पहलू आ ही जाते हैं जहाँ कवि को मनोनुकूल भाव भूमि उड़ान के लिए मिल जाती है, किन्तु परिमित क्षेत्र मे उसे अपनी सीमा रेखाओ मे रहकर ही सब कुछ करना होता है। "सूर ने जिस क्षेत्र को चुना, उस पर उनका अपरिमित अधिकार है, वे उसके सम्राट् हैं।"[1]

दृष्टिकूट के पदो को छोडकर जिनकी रचना के पीछे एक विशिष्ट उद्देश्य रहा है, सूर के सम्पूर्ण काव्य मे कही क्लिष्टता का नाम नही। क्लिष्ट से क्लिष्ट भावो को भी अनुभूति की तीव्रता के कारण सूर ने अत्यन्त सरस एव सरल रूप में प्रस्तुत किया है। इस दिशा मे सूर का हाथ पकड़ने वाला कवि मुश्किल ही होगा। दार्शनिक विचारो का प्रतिपादन काव्य मे दुरूहता ला देता है। आचार्य विट्ठलनाथजी ने सूर को 'पुष्टि मार्ग का जहाज' कह कर पुकारा है, फिर भी सूर के सम्पूर्ण साहित्य मे जहाँ कही दार्शनिक मत मतान्तरों का प्रतिपादन भी हुआ है एक साहजिकता, एक स्वाभाविकता एव सरलता बनी हुई है। सूर ने दार्शनिक विचारों को दार्शनिक विचार मानकर वहन करने का प्रयत्न नही किया था। दार्शनिक विचार उनके एव उनके इष्ट देव के जीवन से इतने घुल-मिल गये थे कि वे उनके जीवन का अनिवार्य अग बन गये थे और यही कारण है कि सूर मे कही क्लिष्टता नही आने पायी। उनकी रचना की सी सरसता एवं सरलता तुलसी जैसे महाकवि मे खोजने पर ही मिलती है, जहाँ कि सूर का सम्पूर्ण काव्य उसका परिचायक है। इस सरलता का एक कारण यह भी है कि सूर ने जीवन के देखे एवं सुने पदार्थो एव व्यापारो से

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : भ्रमर गीत सार, पृष्ठ ४६।

साग रूपक का एक और उदाहरण—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल ॥
महा मोह के नूपुर बाजत, निंदा सब्द रसाल ।
भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल ॥
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल ।
माया को कटि फेटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल ॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नन्दलाल ॥[1]

भाव पक्ष का कवि होने के कारण सूरदास ने शब्दालकारो की उपेक्षा अर्थालकारो (विशेषकर—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक) को ही प्रधानता दी है। सूरदास ने अलकारो का प्रयोग साधन रूप में किया है, साध्य रूप मे नहीं। इससे उनकी रचना मे कही भी अस्वाभाविकता नही आने पायी है।

सूरदास ने अपने अधिकांश काव्य की रचना गायन अथवा कीर्तन के लिए की थी, अतः उनके पदों मे पिंगल शास्त्रोक्त छन्दों की अपेक्षा सगीत शास्त्रानुकूल गेय पदो की ही अधिकता है। सूरदास के काव्य मे जिन छन्दो का प्रयोग हुआ है वे हैं—दोहा, सोरठा, चौपाई, चौपई, रोला और लावनी।

साहित्य-लहरी सूर के दृष्टिकूट पदो का सकलन है। सूरसागर मे भी सूर के दृष्टिकूट पदों का समावेश पाया जाता है जो परम्परा के अनुरूप ज्ञान भाव को विशिष्ट लोगो तक सीमित रखने के लिए दृष्टिकूट शैली का अवलम्ब लेकर लिखे गये हैं। सूरदास के इन पदों मे सूर का आग्रह भाव की अपेक्षा कला पक्ष की ओर अधिक दिखाई देता हे किन्तु वास्तव मे वात ऐसी नही है। इन पदो का मूल उद्देश्य परोक्ष गायन ही रहा है। दृष्टिकूट पदो की शैली ही विशेष होती है जिनमे रूपकातिशयोक्ति अलकार पाया जाता है। इन पदो मे कवि ने राधा के रूप वर्णन को ही प्रधानता प्रदान की है। एक उदाहरण देखिए—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुग अम्बुज पर गजवर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग ॥

---

१. वही, १५३।

हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूल कञ्ज पराग ।
रुचिर कपोत वसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग ।।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक मृगमद काग ।
खञ्जन, धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग ।।
अग अंग प्रति और और छवि, उपमा ताकौ करत न त्याग ।
सूरदास प्रभु पियौ सुधारस, मानो अधरन के वड भाग ।।[1]

सूर की मनोवैज्ञानिक सूझ और मनोवैज्ञानिक चित्रण हिन्दी साहित्य मे ही नही, विश्व साहित्य मे अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों मे—"वात्सल्य एव शृगार के क्षेत्रो का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी वन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नही। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये । उक्त दोनो रसों के प्रवर्त्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियो और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नही। हिन्दी साहित्य मे शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।"[2]

शब्द-सहिति, पद-सगठन एवं वर्ण-मैत्री ने मिलकर सूर के गीतो को मार्मिक एव सजीव वना दिया है ।

सूर की भाषा प्रवाहमयी, सबल, सशक्त व्रज भाषा है जिसमे मुहावरों, कहावतो ने प्राण भर दिये है और भाषा के लाक्षणिक प्रयोगो ने भाषा मे लचीलापन भर दिया है और उसका व्यजकत्व सवल हो उठा है। व्यजना शक्ति एव लाक्षणिक प्रयोगों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग सूर के भ्रमर गीत मे हुआ है ।

सूर के काव्य पर मर्यादा-हीनता का आरोप किया जाता रहा है । किन्तु भक्ति की पराकाष्ठा कोई मर्यादा नही जानती । सूर ने मर्यादा का उल्लघन सासारिकता की दृष्टि के अवश्य किया है, किन्तु इसमे इतनी स्वाभाविकता, साहजिकता आ गयी है कि वह मर्यादा-विरहित जीवन ही मनोरम और मधुर लगने लगता है, अमर्यादा ही मर्यादा वन जाती है और सूर की गोपियाँ मानो साहसपूर्वक पुकार उठती है—

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध, पद २७२८ ।
१. भ्रमर गीत सार : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २-३ ।

बावरी जो पै कलक लगो,
तो नि·सक ्है काहे न अक लगावति ।

सूर ने प्रेमा भक्ति को अपनाया है और प्रेम का अनूठा वर्णन अपने काव्य मे किया है । सूर का सयोग वर्णन कोई क्षणिक घटना नही है; प्रेम-सगीत-मय जीवन की गहरी शाश्वत धारा है जिसमे अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य ही हाथ लग सकता है, हाँ पंक का ध्यान रखने वालो को पक भी दिखाई दे जाती है, पर वह पंक सूर के काव्य को पकिल करने की अपेक्षा पंक अन्वेपकों को ही पकिल बना देती है ।

सूरदास प्रधान रूप से भाव पक्ष के ही कवि है, फिर भी उनकी भाव-मयी भागीरथी मे कला रूपी कालिन्दी ने मिलकर सरस्वती का समावेश कर भक्ति भावना (मधुरा भक्ति) का पुनीत त्रिवेणी सगम निर्माण कर दिया हैं । उनकी कला भी उनके भावो की ही भाँति उदात्त है जो भावनाओं का सस्कार कर सत्प्रेरणादायक है । सूरदास ने विभिन्न भावो के अनुरूप दृश्य विधान से भाषा मे चित्रात्मकता का गुण भर दिया है और यह अत्यन्त प्रभावशाली बनकर अपनी प्रभावोत्पादकता का परिचय देती है और मन अनायास ही अनुभव करता है—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौ सूर की पीर ।
किधौ सूर को पद सुन्यौ, तन मन धुनत सरीर ॥

स्वान्तः सुखाय की भावना से प्रेरित सूर की कविता मे उसका लोक मगल का पक्ष भी उतना ही सबल है जितना तुलसी के काव्य मे और उनकी काव्य-साधना के विषय मे भी महात्मा तुलसी की निम्न पक्तियाँ सार्थक जान पडती है—

कीरति भनति भूति भलि सोई ।
सुर सरि सम सब कहँ हित होई ॥

एकादश अध्याय

सूर की भाषा

सूर ने व्रज भूमि मे रहकर व्रजनन्दन कान्हा की भक्ति में अपनी साहित्य-साधना की है। सूर की जीवनी से इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि सूर पढे-लिखे नही थे। अगर सूर को जन्मान्ध ही मान लिया जाय तो उनके पढे-लिखे होने का प्रश्न ही नही उठता, अन्यथा भी अत्यन्त अल्पायु मे गृह-त्याग कर सीही से चार कोस की दूरी पर पीपल के वृक्ष के नीचे सूर को रहते हम पाते है, जहाँ के बाद के उनके जीवन से यह स्पष्ट है कि सूर को अध्ययन का अवसर प्राप्त नही हुआ।

भाषा विचार-वाहिनी होती है। सूर के मन में भक्ति भावना का सागर उमड रहा था, भाषा स्वयं उनकी वशवर्तिनी बनकर उनके भावों को वहन करती बढी है और कही भी ऐसे भाव नही आये है, जहाँ भाषा की क्लिष्टता के कारण अथवा असमर्थ भाषा के कारण सूर के काव्य का प्रवाह मन्द पड़ा हो। सूर की भाषा भी उनके भावो की तरह अपने मे परिपूर्ण, स्वस्थ एवं सर्वांग सुन्दर है। सूर की भाषा मे चलतापन है, प्रवाह है और उनकी भाषा मे मुहावरो व कहावतो के भी सुन्दर प्रयोग मिलते है, जिनसे उनकी भाषा की शक्ति का परिचय होता है।

सूर कभी व्रजभाषा के प्रथम कवि माने जाते थे, पर आज नही। फिर भी सूर की भाषा का अवलोकन करने के बाद यह बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि सूर के परवर्ती कवियों की भाषा भी सूर की भाषा के सामने महत्त्वहीन है और सूर की भाषा की जूठन महसूस होती है। सम्पूर्ण सूर साहित्य मे सूर की भाषा कही भी शिथिल नजर नही आती। उसमे लाक्षणिक प्रयोगो की भी कमी नही है। सूर के दृष्टिकूट पदो पर दृष्टि डालने से तो सूर को भाषा का सम्राट् कहने मे भी अत्युक्ति प्रतीत नही होती।

तत्सम शब्दावली का अधिक प्रयोग सूर ने बाल छवि वर्णन, मुरली प्रसंग मे कृष्ण छवि वर्णन, रास लीला मे श्याम-श्यामा के रूप वर्णन, रास

वर्णन, वृन्दावन विहार, यमुना जल विहार प्रसग, राधा नखशिख वर्णन आदि मे किया है। इन प्रसंगो मे यथेप्ट संख्या मे तत्सम शब्द मिलेंगे। जहाँ कही सूर ने संस्कृत के तत्सम शब्दो को अपनाया है, उनके सरल रूप ही अपनाये है अन्यथा तद्भव शब्दों का ही प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ एक पद देखिए—

भधुकर पीत वदन किहिं हेत।
जनियत है मुख पांडुरोग भयौ जुवतिनि कौ दुख देत॥
रसमय तन मन स्याम राम कौ जो उचरैं संकेत।
कमल नयन के बचन सुधासम करन घूँट भरि लेत॥
कुत्सित कटु वायक सायक से कौ वोलत रस खेत।
इनहिं चातुरी लोग वापुरे वहत धरम की सेत॥
माथे परौ जोग पथ ताकैं वक्ता धपद समेत।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ विनु महिमा जिमे निकेत॥
मनसा वाचा कर्मना स्याम सुन्दर सौ हेत।
सूरदास मन की सव जानत हमरे मनहिं जितेत॥[1]

उपरोक्त पद मे रेखित शब्द सस्कृत के तत्सम शब्द है। कटाच्छ, मोच्छ, वाचा विगडे हुए रूप है। कुछ शब्दो में व्रज की प्रवृत्ति के अनुसार ध्वनि परिवर्तन हुआ है, जैसे युवती का जुवतिनि, योग का जोग, वचन का वचन, श्याम का स्याम।

तद्भव शब्दों का प्रयोग सूर ने अधिक मात्रा मे किया है। उस समय व्रज की वोलचाल की वोली से सम्पर्क मे रहने के कारण सूर ने व्यावहारिक भाषा को अधिक महत्त्व दिया है। तद्भव शब्दों की अधिकता के कारण भाषा आडम्बर-विरहित वन गई है और उसमे सहज स्वभावगत सौन्दर्य वढ गया है। संस्कृत के शब्दों को कर्णप्रिय व्रज भाषा की प्रकृति के अनुकूल रूप दिया गया है। कुछ उदाहरण देखिए—

(कृष्ण) कान्ह, (नवनीत) लवनी, (निश्शक) निसंक, (द्यूत) जुवा, (नियम) नेम, (अंधकार) अँधियारी, (अकामाल) अंकवारि, (आचमन) अचयो, (अंचल) अँचरा, (शोक) सोक, (पक्षी) पखी, (निष्ठुरता) निठुराई, (अन्यत्र) अनत आदि।

---

1. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ४५८७।

सूर ने अरवी-फारसी के शव्दो का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—जमानत, गुमान, दलाली, दस्तक, महल, सन्दूक, दगा, मुसाहिव, जवाव, अमीन, अवीर, मेहमान, खराद, रेशम, गुलाम, जहाज, अकल, कुलफ, वकसीस, आदि। अरवी-फारसी के शव्द सूर के काव्य मे गिनने पर सौ से अधिक ही मिलेंगे।

देशज शव्द—सूर ने अनेक देशज शव्दो का प्रयोग भी किया है। व्रज मे रहने के कारण व्रज प्रान्त के अनेक देशज शव्द उनकी भापा मे सहज रूप से प्रवेश पा गये हैं, जैसे—अकूहल, अचगरी, गोहन, ढोरत, घारी, दुर, अहीठ, उल्हरत, खाँगी, डहकायौ, ग्वैंड, खरिक, खुनुस, धाक, फेफरी, जोहर, झगुआ, झारी, वाइ, वुडका आदि।

सूर की भाषा मे मुहावरे-कहावते भी सहज रूप मे आ गये है। कुछ उदाहरण देखिए —

१ **काटे ऊपर लौन लगावत** लिखि लिखि पठवत चीठी। (३६७२)

२. जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें एक डार के तोरे। (३५९५)

३ अपनो पति तजि और वनावत, **मेहमानी कछु खाते**। (३५१६)

हियरो सुलगावत, आँख दिखावत, सहद लाइ कै चाटो, हंस काग के संग, लौंडी की डौडी जग वजी, भाँवरि सी पारि फिरैं, मन की मन ही माँझ रही, मरत लोचन प्यास आदि।

कहावतों के कुछ उदाहरण—दाई आगे पेट दुरावति, वीस विरियाँ चोर की तौ काहू मिलि है साहु, काकी भूख गई मन लाडू, दूध दूध पानी कौ पानी, अपनौ वोयौ आप लोनिये, इनकी भई न उनकी, जो वन रूप दिवस दस ही कौ ज्यो अंजरी को पानी, काटहु अव ववूर लगावहु, आदि।

सूर ने भाषा का भावानुकूल प्रयोग किया है। सूर की साहित्यिक भापा का निखरा रूप भ्रमर गीत मे देखते ही वनता है। दृष्टान्तो तथा उपमाओ का वडा ही सुन्दर प्रयोग भ्रमर गीत में हुआ है।

सूर की भाषा अत्यन्त प्रवाहमयी, भावानुकूल, विपयानुकूल, पात्रानुकूल, सवल तथा सशक्त है। भावो की पुनरावृत्ति मे भी सूर की भाषा एवं लाक्षणिक प्रयोग एवं शव्द माधुर्य कही अरुचि उत्पन्न होने नही देते।

द्वादश अध्याय

प्रतीक विधान

काव्य आत्मा की सहज अभिव्यक्ति है। अह जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व का परिचायक है, वहाँ अहं आत्मा की कारा भी है, जिसमें आवद्ध आत्मा अपने वन्धनो से मुक्त होने के लिए छटपटा भी उठती है। आत्मा का गुण है व्यापकत्व, पर वह अह की सीमाओं मे आवद्ध होकर अपने गुण धर्म (व्यापकता) को भूल भी वैठती है। जैसे-जैसे ये अह की शृखलाएँ ढीली पडती हैं (अहं के वन्धन अभ्यास तथा साधना मे धीरे-धीरे ही ढीले पडते है), आत्मा का प्रसार ससार के प्रति आत्मीयता के रूप मे दृष्टिगोचर होने लगता है। जो अपने अहं को पूर्णतया विसर्जित कर देता है, उमके लिए अपने-पराये, जड-चेतन की सीमा रेखाएँ मिट जाती हैं। व्यक्ति जव विश्व मे व्यापक सत्ता की व्यापकता का अनुभव करता है, प्राकृतिक पदार्थों के व्यापकत्व पर दृष्टि-पात करता है, जो अपने को किसी विशिष्ट व्यक्ति अथवा प्राणी के लिए सीमित न रख, अपनी सर्वसुलभता, अपनी सर्वहिताय की भावना से सर्व-प्रिय वन जाता है तव उमके मन मे भी उदात्त भाव जगने लगते है, उसकी आत्मा व्यापकत्व के लिए छटपटा उठती है, अपने वन्धनो को तोड-लाँघ कर वह दूमरो के सम्पर्क मे सुखानुभूति करती है। व्यक्ति अपनी व्यापकता को प्राकृतिक व्यापकता के मानदण्ड पर मापने का प्रयत्न करना है, आरम्भ करता और अपनी व्यापकता जताने के लिए भी वह उचित उपमान अपने आस-पास से ढूँढने का प्रयत्न करता है, जो उसकी अनुभूति की व्यापकता पर अवलम्वित रहते हैं। यह व्यापकत्व सर्वसुलभ नही होता और व्यक्तिगत उपलब्धियों पर अवलम्वित रहता है। यही कारण है कि सभी सजीव प्राणी आत्मा को धारण करते हुए भी अपना-अपना अलग-मा व्यक्तित्व रखते है, समान होकर भी असमान वने रहते हैं। जो भी अपनी साधना द्वारा अपने अह की कारा मे अपने को जितना अधिक मुक्त करता है, वह उतना ही अधिक उदात्त

वनकर व्यापकत्व पाता है, लोगों के सम्पर्क मे आता है। आत्मा का गुण, भाव है, और भावाभिव्यक्ति द्वारा ही आत्माभिव्यक्ति सम्भव है। कवि कलाविद जो अपने आप को—अपनी आत्मा को कला के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं, जन-साधारण से इसीलिए श्रेष्ठ माने जाते है कि वे अपनी अभिव्यक्ति निश्छल भाव से करते हैं, सवके प्रति आत्मीयता का भाव रखते है जिसके कारण उन्हे दुराव तथा छल-कपट की आवश्यकता नही रहती। उनकी श्रेष्ठता का एक और कारण भी माना जा सकता है कि वे अपनी आत्मा को अह की कारा से मुक्त करने मे अधिक सफल रहे हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेम के दो कारण वताये है—सुन्दर और सहवास। उन्होने सहवासजनित प्रेम के महत्व का प्रतिपादन भी किया है और उसे अधिक चिरस्थायी वताया है। इस सहवासजनित प्रेम मे कुरूप वस्तुएँ भी सुन्दर वन जाती है क्यों कि प्रेम स्वय सुन्दर है और उसमे साधारण को असाधारण वनाने की क्षमता भी है। प्रकृति मानव की चिर सहचरी रही है, अतः उसके प्रति मानव-मन मे प्रेम भाव का होना सहज-स्वाभाविक भी है। प्रेम और फिर सामीप्य के कारण प्रकृति मानव-जीवन का अभिन्न अग वनकर रह गई है। वह उसके सुख-दु.ख मे अपना सुख-दु ख देखता रहा है और अपने सुख-दु ख मे उसे भी हँसता और आँसू वहाता देखता रहा है। जड प्रतीत होने वाली प्रकृति, मानव की आत्मायता पाकर सजीव एव मुखर हो उठी है। आत्मतत्व अपनी अभिव्यक्ति के लिए जड तत्व को, अनात्म तत्व को आधार वनाता है। आत्म तत्व की—आत्मा की जो अभिव्यक्ति शब्द एव अर्थ के द्वारा होती है, हम उसे साहित्य कहते है। किन्तु जीवन मे कुछ ऐसे भी क्षण आते है जहाँ हम शब्दो को, अपने को अभिव्यक्त करने मे, भावाभिव्यक्ति मे असमर्थ पाकर प्रतीको का सहारा लेते है। इसीलिए सम्भवतः कविवर वच्चन ने वेरिस पेस्टरनाक की उक्ति—"प्रतीक अह की कारा से निकलने के द्वार हैं" को प्रतीक पद्धति को स्पष्ट करने के लिए कहा है, "ऐसी स्थिति की अभिव्यक्ति मे प्रतीक की भाषा स्वाभाविक होती है। प्रतीको से कवि का कितना तादात्म्य है यह भावो की तीव्रता पर निर्भर होगा।"[1]

हमारी अनुभूति जितनी व्यापक होती है, उतनी ही हमारी कल्पना

१. कवियो मे सौम्य सन्त, पृष्ठ १३९।

शक्ति सजग एव तीव्र भी होती है। इसके साथ हमारी निरीक्षण शक्ति का गहरा सम्वन्ध है। कवि की निरीक्षण शक्ति जितनी गहरी होती है, उतने ही उसके द्वारा प्रस्तुत किये चित्रो मे सजीवता एव स्वाभाविकता आ जाती है। व्यक्ति मात्र की यह विशेषता है कि वह अपरिचित को साम्य के आधार पर पहचानने का प्रयत्न करता है। वह अपनी भावनाओं को व्यापक बनाकर, साधारण से साधारण वस्तु मे भी प्राण-प्रतिष्ठा कर उसकी भावनाओ को पढने का प्रयत्न करता है, उसे अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करता है। हमारी अनुभूति जितनी व्यापक होती है, हमारी निरीक्षण शक्ति जितनी गहरी होती है, उतनी ही हमे प्रतीको के चुनाव मे सफलता होती है और हमारा प्रतीक विधान उतना ही स्वाभाविक एवं संगत माना जा सकेगा। साकेतिकता प्रतीको की सवसे वडी विशेषता मानी जा सकती है और स्पष्टता अवगुण। जहाँ कोई कवि अपने प्रतीक विधान को स्पप्ट करने बैठता है तो हमारे मन मे दो प्रकार के भाव एकसाथ ध्वनित हो उठते हैं—एक, कवि को अपने प्रतीक विधान पर विश्वास नही होता कि वे उसके भावाभिव्यक्ति मे सफल होंगे, उसके आशय को स्पष्ट कर पायेंगे। दूसरे, यह कि कवि अपने पाठकों को अपने से कम स्तर का मानता है और ये दोनो ही वाते किसी प्रकार भी अच्छी नही मानी जा सकती। जहाँ कवि प्रतीकों के चुनाव के साथ, उनकी व्याख्या भी करता है, वहाँ अर्थ के माध्यम से कविता तक पहुँचने वाले साधारण पाठक के लिए वह व्याख्या उपयोगी भी होती है, पर सारगर्भित प्रतीको में जो जादू होता है, जो आकर्षण होता है, वह रहस्य के नष्ट होते ही नष्ट हो जाता है। वाह्य अर्थ को छोड़ गहराई मे जाने वाले पाठक को निराशा ही होती है। मेरे कहने का अभिप्राय यह नही लगा लेना चाहिए कि मैं कविता मे रहस्यवाद का पक्षपाती हूँ। मैं रहस्यवाद को कविता का दोष नही मानता, पर अपने को महान् कवि सिद्ध करने के हेतु रहस्य की ओर रुझान अस्वाभाविक ही नही, कविता की आत्मा का नाशक होता है। कविता सायास प्रयास वनकर शब्दो का खिलवाड रह जाती है। रहस्य का भाव जगा · के लिए मैं कुछ विशिष्ट प्रतीको को अपनाने के पक्ष मे नही हूँ। प्रतीक जितने स्वाभाविक और साधारण होते है, कविता उतनी ही असाधारण बन जाती है।

पुराने कवियो मे कवीर इस क्षेत्र मे अधिक चतुर दिखाई देते हैं।

कवीर ने कही भी अपने प्रतीको की व्याख्या नही की, जिससे उनके ऐसे वर्णन अधिक सफल एवं सवल वन पडे हैं। एक-दो उदाहरण देख लेना अनुचित न होगा—

१—जल मे कुम्भ, कुम्भ मे जल है, वाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तत्व कथो ज्ञानी॥
२—माली आवत देखकर, कलियन करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिये, काल्हि हमारी वार॥

कवीर का कुछ प्रतीक-विधान साधारण पाठक के लिए कष्टसाध्य अवश्य है, पर असाध्य नही है। मैं प्रतीको द्वारा कविता को पहेली वनाने के पक्ष मे भी नही हूँ। कविता भावों की भाषा है, और भावो की सवसे वड़ी विशेषता उनकी सम्प्रेक्षणीयता है, और भावो का यह गुण कविता मे भी यथा रूप पाया जाता है। इस गुण के अभाव मे कविता कही की नही रहती, अतः प्रतीक-विधान मे हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कविता अपने मूल गुणो, सम्प्रेपणीयता तथा सृजन शक्ति से वंचित न हो जाय।

सूरदास की रचना मे भी सुन्दर प्रतीक योजना के रूप मिलते है। एक उदाहरण देखिए—

चकई री! चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।[१]

सूरदास ने अपनी रहस्यात्मक अन्योक्तियो मे चकई, सखी, भृंगी और सुवे को आत्मा के अर्थ मे सम्वोधन किया है, किन्तु उन्होने अपने प्रतीको को स्पष्ट करने की कमजोरी नही दिखाई।

सूर के दृष्टिकूट के समस्त पद प्रतीक योजना का सुन्दर उदाहरण हैं। दृष्टिकूट पद का एक उदाहरण देखिए—

अद्‌भुत एक अनूपम वाग।
जुग अम्वुज पर गज वर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर झूले कंज पराग।
रुचिर कपोत वसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृग-मद काग।
खंजन धनुप चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥[२]

---

१. सूरसागर, ३३७।
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, २७२८।

और एक उदाहरण देखिए—

राधे हरि-रिपु क्यों न दुरावति ।
सैल सुता पति तासु सुता पति ताकैं सुनहिं मनावति ।।
हरि वाहन सोभा यह ताकी, कैसे धरं सुहावति ।
द्वै अरु चार छहों वै वीते, काहे गहरु लगावति ।।
अब अरु सात ये जु तोहिं सोभत, ते तू काह दुरावत ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कों, सारग भरि भरि आवत ।।[१]

सूर के विनय के पदो मे भी प्रतीक योजना के कुछ सुन्दर उदाहरण मिल जाते है। निम्न पद मे सूर ने अपने मन रूपी गाय को कान्हा के हवाले करने की भावना को कितने सुन्दर रूप मे अभिव्यक्ति दी है—

माधव जू यह मेरी इक गाई ।
अब आजु ते आपु आगे लै आइयै चराई ।।
है अति हरिहाई हटकृत हूँ, वहुत अमारग जाती ।
फिरति वेद वन ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राती ।।
हित कै मिलै लेहु गोकुल पति, अपने गोधन माँह ।
मुख साऊँ सुनि वचन तुम्हारे, देहु कृपा करि वाँह ।।
निवरक रहौं सूर के स्वामी, जन्म न जाऊँ फेरि ।
मैं ममता रुचि सो रघुराई, पहले लेऊँ निवेरि ।।[२]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, ३३६६ ।
२. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध ।

त्रयोदश अध्याय

सूर का गीति काव्य

कविता जीवन की अभिव्यक्ति है, वह जीवन जो नित्य प्रवाहित रहना जानता है, रुकना जिसे न आता है न भाता है। जीवन धारा भी जल-धारा की भाँति अबाधित रूप से रास्ते की समस्त रुकावटो को लाँघती अपने अभीष्ट स्थान तक पहुँचकर पुन: नये जीवन का वरण करती है। अजस्र, अबाधित बहती यह धारा कभी अपने पावन रूप से शिव बनी जग-कल्याण मे रत रहती है तो कभी उसका रुद्र रूप भी दृष्टिगत होने लगता है जो अपने मे सबको समाविष्ट करता आगे बढता है। सागर से निकली लघु जल-बिन्दु पुन. उसमे विलीन होने के लिए अपने चिर पुरातन, चिर नूतन पथ पर अग्रसर होती है। वह अपनी लघुता का अवलोकन कर अपने वास्तविक व्यापकत्व को पाने के लिए विकल हो उठती है, तडप उठती है—आत्मा का गुण भी व्यापकत्व है, शरीर की एवं अहं की कारा मे उसका दम घुटने लगता है और वह उस कारा से मुक्त होने के लिए, अपने व्यापकत्व को पाने के लिए विकल हो उठती है, तडप उठती है और सीमाओ मे अपने असीमत्व का परिचय देने के लिए प्रयत्न करती है। इसी मे उसे आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिए जीवन एवं कविता का चरम लक्ष्य आनन्दानुभूति माना जाता है।

मनुष्य अपने मे अपने अह को केन्द्रित रखकर आनन्द तत्व को प्राप्त नही कर सकता। सीमाओं में उसका दम घुटता सा प्रतीत होता है, इसीलिए वह अपने अहं को अपनी सीमाओ से मुक्त कर, उसे आत्मा के वास्तविक गुणों से सुसज्जित कर अनेकत्व मे एकत्व की अनुभूति करना चाहता है। इसके लिए आत्मविस्तार की आवश्यकता है, उसकी चेतना उसके मन की तहो मे केन्द्रित होकर, कैद होकर दम न तोडे और व्यापकत्व धारण कर संसार की प्रत्येक वस्तु मे अपने को बिखरा दे। इस के लिए मनुष्य अपने सम्पर्क में आने वाली हर वस्तु जड़-चेतन से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है

और करता है। अहं के इसी विस्तार अथवा अभिव्यक्ति के लिए, मानव जड़ जगत् को, अनात्म तत्व को भी माध्यम के रूप में अपनाता है। अहं की जो अभिव्यक्ति शब्द एवं अर्थ के माध्यम से होती है, वही कविता है।

जैसा कि हम कह आये हैं, वाह्य जगत् का सम्पर्क अन्तः जगत् से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। वाह्य जगत् मे दृष्टिगत होने वाली हर वस्तु दृष्टा के दृष्टिकोण के आधार पर रम्य एवं कुरूप सिद्ध होती है।[1] अतः हर वस्तु के दो रूप माने जा सकते हैं—वस्तुगत या विषयगत और व्यक्तिगत या विषयीगत। इन दो रूपों के कारण उनकी अभिव्यक्ति के भी दो रूप बन गये हैं—विषय प्रधान और विषयी प्रधान।

विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बुद्धि तत्व की आवश्यकता होती है और वहाँ पर हर वस्तु को बुद्धि के बल पर तर्क की तराजू पर तोला जाता है। बुद्धि एवं तर्क के आवरण में हम आत्माभिव्यक्ति को पूर्ण रूप से सम्भव नहीं मानते। कई बार मनुष्य अपने मूल भावों को बुद्धि के वाह्य आवरण में छिपाने का सफल या विफल प्रयत्न करता प्रतीत होता है, वह अपनी भावनाओं पर बुद्धि का अंकुश रखना चाहता है, पर भावनाओं का हाथी अवसर पाकर उस अंकुश को झटक कर अपनी मस्ती में झूम भी उठता है और हमे ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते है जहाँ संयमी से संयमी व्यक्ति भी अपनी भावनाओं के वशीभूत होकर संयम की बाग-डोर को भूल जाते हैं और सम्भवतः इसके पीछे भी वही मनोवैज्ञानिक सत्य हो कि बन्धन ही मुक्ति के सोपान हैं। उसी मे आत्मा का वास्तविक रूप झलकता है और साहित्य साधना का मूल उद्देश्य भी तो आत्माभिव्यक्ति ही है, अतः यह निश्चित हो जाता है कि यह अभिव्यक्ति वस्तु-परक वर्णन मे सम्भव नहीं है, इसी से हम कविता के भाव प्रधान रूप (भावपरक रूप अथवा विषयी प्रधान रूप) को ही प्रधानता देते हैं जो गीतो मे ही सम्भव एवं सहज होती है। हम यह भी मानते हैं कि यह अभिव्यक्ति जितनी स्पष्ट एवं निश्छल होती है, उतनी ही सबल एवं प्रभावोत्पादक भी बनती है, क्योकि निश्छलता और स्पष्टता सबल आत्मा और सबल व्यक्तित्व के गुण हैं। शास्त्र-ज्ञान बात को उलझाता है, मानव का सहज विकसित भावना प्रवण हृदय उलझी को सहज सुलझा देता है।

---

१. 'रूप रिझावनहार वह, ये नयना रिझवार।' (बिहारी)

इसके उदाहरण हमे सम्पूर्ण विश्व-साहित्य मे प्राप्य होते है कि शास्त्राभ्यासी कवि आत्मानुभूतिपरक उत्तम गीत नही लिख पाये हैं, जितने उत्तम गीत अल्पज्ञ कवि, शास्त्रीय वन्धनों से अपने को मुक्त रखने वाले कवि सहज ही दे सके हैं। इसीलिए तो हम मानते हैं कि गीतों का वास्तविक सहज सरल रूप आज भी लोक-गीतो मे दृष्टिगत होता है जिनमें कलात्मकता एवं पंडिताऊपन का आवरण नही होता, होती है स्वच्छन्द सरल आत्मा की निश्छल अभिव्यक्ति। हमे यह नही भूलना चाहिए कि लोक हृदय आदि काल से गीतियों मे निवास करता आया है। किसी देश की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए हमे लोक-गीतों के पास ही जाना चाहिए। गीतों को जनता अपने हृदय मे स्थान देती है। धर्म-प्रचारको एव मत-प्रस्थापको ने इस तत्व को दृष्टि मे रखकर ही जन-मन को परिवर्तित करने के लिए गीतो के अमोघ शस्त्र को माध्व स्वरूप अपनाया। सिद्धों ने, नाथ-पथियों ने, निर्गुणियों ने एव सगुण भक्त कवियो ने भी अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए गीतो को अपना आधार वनाया। यहाँ सन्देह उठाया जा सकता है कि जव गीतो को सोद्देश्य किसी मत-प्रस्थापन के लिए अथवा प्रचार-हित अपनाया जाने लगा था, तो उनमे गीति-तत्व (आत्मा की स्पष्ट एव निश्छल अभिव्यक्ति) कहाँ तक जीवित रहा होगा ? इसमे सन्देह नही कि सूखे सिद्धान्तों का पिष्टपेषण गीतों की आत्मा को नष्ट कर देगा, पर सिद्ध-हस्त कवियो ने किस प्रकार अपने काव्य के माध्यम से सिद्धान्तो मे अपनी आत्मा का रस निचोडकर उन्हे अधिक प्रभावशाली ढग से अपने सिद्धान्तों को अपनी आत्मा की वाणी वनाकर प्रस्तुत किया है, यह वात छिपी नहीं है। इतनी वात ध्यान मे रखनी चाहिए कि ऐसे अवसर पर कवि सिद्धान्तों का वोझ वहन करने वाला न वन वैठा हो, अपितु सिद्धान्त उसके जीवन मे घुल-मिल गये हों, जीवन का एक अभिन्न अग वन गये हो और वे उसके जीवन से अलग न रहकर उसकी निजात्मा की पुकार एवं गुण वन गये हो, तव ही स्वाभाविकता वनी रह सकती है, अन्यथा नही। सूर के काव्य मे पुष्टि-मार्गी सिद्धान्तो का अवलोकन कर ही शायद डॉ० मनमोहन गौतम अपने शोध प्रवन्ध मे लिखते हैं—"लीला का वर्णन कवि को अभिप्रेत नही है—कवि की पुष्टि-मार्गीय सरल अभिव्यक्ति स्वतः गीतकार हो गयी है।"[१] और भी—"भागवत-

---

१. सूर की काव्य कला · डा० मनमोहन गौतम, पृष्ठ ६० ।

कार की भाँति सूर कृष्ण-लीला का वर्णन नही करते। वे दो कृष्ण लीला मे सम्मिलित होकर पुष्टि-मार्गीय आनन्द लाभ की शुद्ध और मनोरथ अभिव्यक्ति करते है।"[1] वास्तव मे बात ऐसी नही है कि सूर का मूल उद्देश्य पुष्टि-मार्गीय अथवा शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तो का पिष्टपेषण रहा हो। बात यह थी कि उन्होने भगवान की लीला का गान वल्लभाचार्य द्वारा सुनी भगवत्-लीला के आधार पर किया था और वल्लभाचार्यजी के द्वारा सुनी हुई उस कृष्ण कथा मे उस मार्ग के सिद्धान्तो का समावेश होना सहज स्वाभाविक ही था, पर सूर ने अपनी ओर से उन सिद्धान्तो को गीतों का रूप दिया ऐसा मानना न्याय-संगत नही होगा। सूर को अगर हम साम्प्रदायिक कवि के रूप मे अंकित करेगे तो उनके समस्त साहित्य मे, जिसमे उनकी आत्मा का निजी रस छलकता, झलकता दृष्टिगत होता है, नष्ट हो जायेगा और उनके समस्त साहित्य की वह मनोहारिता नष्ट हो जायेगी। सूर का समस्त साहित्य उनकी स्वान्तःसुखाय रचना है। वैसे तो प्रत्येक कवि की रचना के पीछे स्वान्तः-सुखाय की भावना का होना अनिवार्य है। जो रचना अपने रचयिता को ही आनन्द प्रदान नही कर सकती, वह अपने पाठक और श्रोता को क्या आनन्द दान करेगी ? कलाकार के वैयक्तिक पक्ष को भूल कर उसकी रचना का मूल्याकन करना सदा सर्वथा भ्रामक ही रहा है। हम तो साहित्य को वैयक्तिक साधना ही मानते है, वह समष्टिगत तभी बनती है जब पाठक और श्रोता भी उसमें अपने भावो की झलक पाते हैं, साहित्यकार जिसे लिखकर आनन्द पाता है, पाठक और श्रोता उसे पढकर एव सुनकर आनन्द ढूँढते है। सूर कृष्ण के रग मे इतने रंग गये थे कि उनमें और कोई, और विशेषकर साम्प्रदायिकता का रंग ढूँढना सूर के सरल स्वरूप के प्रति अन्याय करना होगा।

गीति काव्य के प्रधान लक्षणो मे हम (१) गेयत्व, (२) आत्माभिव्यक्ति, (३) संगीतात्मकता, (४) शब्दो एवं स्वरों मे तारतम्य (harmony), (५) अन्विति (unity), (६) सहज अन्तःप्रेरणा, (७) भविष्य, (८) तारल्य, एव (९) प्रवाह को प्रधान मानते हैं। संगीत गीतो की आत्मा है। उसी के संबल पर क्षितिज और भूमि की सधि होती है। सगीत

---

1. वही, पृष्ठ ६१।

मानव के अन्तराल की माधुर्यमयी भावना का मुखरित रूप है। कविता अथवा गीत उसके पंख हैं जिनके सहारे संगीत अनुरंजित होता है।

महादेवी वर्मा ने लिखा है—"सुख-दु:ख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दो मे स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।[1] कविवर पंतजी ने गीत एव गीतकार के रूप को 'पल्लव' मे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड कर आँखो से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥[2]

कविवर वच्चन के शब्दो मे—

गीत कवि उर का नही उपहार, उसकी विकलता है।[3]

और—

उर क्रन्दन करता था मेरा, पर मुख से मैंने गान किया।
मैंने पीडा को रूप दिया, जग समझा मैंने कविता की॥[4]

कविवर वच्चन एक सफल गीतकार हैं। उन्होने गीतकार के लिए आत्मानुभूति को अनिवार्य माना है। उनका विचार है कि अनुभूति को स्थूल घटनाओ तक सीमित नही रखना चाहिए।[5]

जहाँ हम गीत के विषय मे कहते है कि गीतो मे मानवीय हर्ष-उल्लास अथवा रुदन-विषाद की सहज अभिव्यक्ति होती है, पर यह अभिव्यक्ति शब्द एव अर्थ को सरल वनाकर, स्वर, ताल और लय के सहारे एक भावात्मक वातावरण उत्पन्न करती है। फिर भी हर्ष की अपेक्षा शोक को ही गीतो मे विशेष स्थान प्राप्त है। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि तुष्टि मौन रहती है और अभाव एव पीडा मे पुकारने की प्रेरणा

---

१. आधुनिक कवि, भाग १, अपने दृष्टिकोण से।
२. पल्लव।
३. आकुल अन्तर : वच्चन, पृष्ठ ४२।
४. मधुवाला : वच्चन, पृष्ठ ५८।
५. प्रणय पत्रिका, भूमिका, पृष्ठ १२।

होती हैं। ये अभाव भी भावमय होकर मुखरित हो जाते हैं।[1] शेली ने भी तो करुणाजनक गीतों को मधुर माना है।[2] कविवर मैथिलीशरण गुप्त भी लिखते हैं—

रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गाकर रोती है मेरी हृतन्त्री की तान।[3]

कविवर वर्ड्सवर्थ ने भी गीतों को आवेशमयी चित्तवृत्ति का व्यक्तिकरण माना है,[4] जिसमें कवि के हृदय की अन्तर्ज्वाला किसी बाह्य प्रेरणा का स्पर्श पाकर साकार हो जाती है और उत्पीडित या उच्छ्वासित मानस स्वतः गीतों के रूप में फूट पडता है।

गीत में भावों की विशृंखलता नहीं होनी चाहिए। भावैक्य उनका अनिवार्य गुण है और बहुधा गीतकार इस भावैक्य और अन्विति को बनाये रखने के लिए किसी टेक को अपनाते हैं जो बार-बार दुहरायी जाकर मानोभावों को बहकने से रोकने का प्रयत्न करती है और यह भी लगता है कि टेक ही गीत की आत्मा हो।

गीतों की भाषा का प्रधान लक्षण उसका प्रवाह है। भाषा सहज-सरल होनी चाहिए। उसकी सहजता ही उसके प्राणों की रक्षा कर सकती है, उसकी क्लिष्टता उसके प्राणों को कुचल देती है। भाषा की दुरूहता के कारण उसके गेयत्व पर भी प्रभाव पडता है। उच्चारण आदि के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है और रस-निष्पत्ति में व्याघात पहुँचता है। गीत छन्दों के पखों में अधिक ऊँची उड़ान भरने में समर्थ होते हैं। छन्द उसके लिए बन्धन न बनकर उसके प्रभाव को बढ़ाने में सहायक ही होते हैं।

गीति काव्य की परम्परा—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, गीतों का वास्तविक स्थान जन-मन होने के कारण गीत लोक-जीवन का अचल पकडे

---

१. "एक अभावों की घडियों मे भाव भरा मैं बोला।" (प्रणय पत्रिका, भूमिका, पृष्ठ १२।)
२. "Our Sweetest Songs are those, That tell of saddest thoughts" (Shelley : To a Skylark)
३ यशोधरा, पृष्ठ ६८।
४. "Poetry is spontaneous outburst of emotional feelings recollected in tranquility." (Wordsworth.)

आगे वढते रहते हैं । हिन्दी के गीतो की परम्परा सम्भवत. जयदेव के गीत गोविन्द से, विद्यापति के माध्यम से मिली । जयदेव की अष्टपदियो का रूप हिन्दी ने नही अपनाया, उसका भाव क्षेत्र अवश्य ही हिन्दी पर अपना प्रभाव डाले हुए है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते है—"कृष्ण चरित के गान के में गीत-काव्य की जो धारा पूरव मे जयदेव और विद्यापति ने वहाई, उसी का अवलम्बन व्रज के भक्त कवियो ने भी किया ।"[1] आचार्य शुक्ल इसी विपय मे लिखते हैं—"जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता मे दव गयी थी, अवकाश पाते ही, लोक भापा की सरसता मे परिणत होकर मिथिला की अमराइयो के कोकिल कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर व्रज के करील कुञ्जो के वीच फैल, मुरझाये मनो को सीचने लगी । आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठी, जिनमे सवसे ऊँची सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूरदास की वीणा की थी ।"[2]

विद्यापति के वाद वीर काव्य मे भी चारणो एव भाटो ने वीर गीतो के गान किये और आगे चलकर कवीर आदि निर्गुणिया संतो ने पद रचना के द्वारा इस परम्परा को आगे वढाया । हम ऊपर कह आये है कि गीतो की परम्परा को सिद्धो एवं नाथ पंथियो ने भी अपनाया था और हमे उनकी रचना मे भी गीति तत्व के लक्षण मिलते है । उसी परम्परा को सन्तो ने भी अपनाया । सन्तो की गीतियाँ स्वानुभूतिपरक गीति की श्रेणी मे ही आती हैं । फिर भी उन मे ज्ञान तत्व की अधिकता एव उपदेशात्मकता के कारण एव उनकी वौद्धिकता के कारण वे गीत-पद उतने लोक-प्रिय नही वन पाये, जितने वाद के सगुण भक्तो के विनय के पद । सन्तों की वाणी ने जन-साधारण को वौद्धिक क्षेत्र मे पराभूत कर उन्हे अपना अनुयायी वनाना चाहा था, पर वे जन-मन को अपना अनुयायी नही वना सके थे, इसी से सन्तो के निर्गुण पन्थ को भक्त शिरोमणि सूरदास के सहज प्रेम-भीने भक्ति-रस-सिंचित आत्मसमर्पणात्मक पदो ने पराभूत कर सगुण पन्थ की स्थापना करने में सहज सफलता प्राप्त की । यह भी अवश्य ही हुआ है कि सूरदास ने पुष्टिमार्ग के विचारो को अपने पदो मे घोल-घोल कर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १९९ ।
२. सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, १४९-५० ।

प्रस्तुत किया है, क्योंकि ये सिद्धान्त उनके जीवन का अभिन्न अंग वन चुके थे। भ्रमर गीत मे उद्धव को गोपियों से हराकर मस्तिष्क पर हृदय की विजय की घोषणा के साथ अपने पन्थ का निरूपण किया है, पर उनमे इतनी स्वाभाविकता है कि वे पद प्रचारात्मक लगते ही नही। इसका कारण यह भी हो सकता है कि सूरदास उसमे एकरूप हो गये थे, उनका अलग अस्तित्व ही नही रहा था, वे सिद्धान्तो का सूखा पिष्टपेषण करने वाले धर्मावलम्वी नही थे, वे सिद्धान्त उनके जीवन मे घुलकर, जीवन का अग वनकर, सहज वनकर प्रस्फुटित हुए थे, इसीसे सूर लोगों के सिर से तर्क एव ज्ञान का भूत उतार कर उनके साथ ही सहज समभाव भूमि पर उतर कर एक अत्यन्त आत्मीय व्यक्ति के रूप मे अपनी वात कह कर, उसको प्रभावशाली वना सके हैं। सगुण भक्ति शाखा के कवियों के गीत परोक्षानुभूति परक ही अधिक रहे हैं। उन्होंने अपने आराध्य देव को कही गोपियाँ के माध्यम से और कही गोप सखा, कही यशोदा, कही नन्द, कही कौशल्या के माध्यम से निरख कर उसके प्रति अपने रागात्मक भावो को अभिव्यक्त किया है। उनकी स्वानुभूतिपरक गीतियाँ न मिलती हो सो वात नही। सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों के पद उनकी निजी अनुभूति से प्रसूत होने के कारण स्वानुभूति परक कोटि मे ही आयेंगे, जिनमे उन्होने अपने दैन्य, आत्मनिवेदन आदि विनीत भावो तथा उसकी (अपने आराध्य देव की) महत्ता और समर्थता एवं द्रवणशीलता का गान सरल हृदय से किया है।

सूर का गीति काव्य—सूर का वर्ण्य विषय भगवान कृष्ण की वाल लीला और यौवन लीला तक ही सीमित रहा है। उन्होने भगवान कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को नही अपनाया। इन दोनो के अन्तर्गत आये हुए व्यापार, क्रीडाएँ, उमंग और उद्रेक के रूप मे ही है। प्रेम भी घटना पूर्ण नही है। कृष्ण का यह जीवन प्रवन्ध काव्य के उपयुक्त था ही नही। वह कृष्ण की लीलाओ तक ही सीमित था, उसमें मानव जीवन की अनेक रूपता—विविधता नही पाई जाती। कृष्ण के मथुरा गमन से पूर्व तक ही उसकी वाल-लीलाओ, यौवन क्रीड़ाओ को लेकर गीति काव्य एवं मुक्तक काव्य लिखे गये और ये वास्तव मे उस भावभूमि के अनुकूल ही थे।

सूरसागर वास्तव मे गीतो का सागर ही है। हरेक पद पर राग-रागिनी के नाम भी लिखे मिलते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते

हैं--"इनकी रचना गीति-काव्य है जिसमे मधुर ध्वनि प्रवाह के वीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारो की झलक भर काफी होती है।"[1] कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी के ग्रंथालय मे इन पक्तियो के लेखक को सूरसागर की एक पुरानी हस्तलिखित प्रति, जिसका लेखन काल संवत् १७८० के अधिक मास की पूनम तिथि दिया गया है और जो इन्द्रप्रस्थ के शाह मुहम्मदशाह के लिए लिखी गयी थी, वहाँ के संगीत-विषयक कैटलाग में जुडी हुई मिली। रचना फारसी लिपि में है, और सम्भवत. इसीलिए सूरसागर को सुरसागर ममझकर संगीत के अन्तर्गत रखा गया है और फिर हरेक पद के ऊपर राग-रागिनी का नाम देखकर भी संकलनकर्ता ने उसे सगीत की रचना समझ लिया है। सम्भवतः इस रचना से सूरदास के कुछ नये पद भी मिल जायें। रचना काफी वडी है। जो भी हो, भूल से ही सही सूरसागर को सुरसागर मानने वाले ने हमारे कवि के प्रति कोई अन्याय नही किया है।

इसमे सन्देह नही कि सूरसागर का ढाँचा मुख्य रूप से श्रीमद्भागवत से तैयार किया गया है, अत. उसमे कथात्मकता होना स्वाभाविक है, किन्तु हम उसे महाकाव्य के लक्षणो के अनुरूप नही पाते। इसका कारण हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं कि सूर ने भगवान कृष्ण के सीमित जीवन क्षेत्र को ही अपने गीतो मे अकित किया है। कृष्ण जीवन की गाथा होते हुए भी उसमे घटनाओ के वर्णन की प्रवृत्ति नही है। जहाँ कही कथा-प्रसग आते हैं, वहाँ भी कवि की वर्णन शैली पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि कवि की वृत्ति उसमे नही रमी। वह जैसे-तैसे, शीघ्रतापूर्वक उसे पूरा करने की धुन में उन प्रसगो से मानो जल्द से जल्द छुट्टी पाना चाहता है और पुनः भगवान कृष्ण के उस मनोहारी रूप में अपनी चिर पिपासा को परितृप्त करने की अभिलाषा मे कभी उसके रूप वर्णन, कभी उसके लीलाओ के वर्णन के निकुंजों मे खो जाता है। कथा-प्रसगो मे सासारिकता के कारण कवि को उसके प्रति उदासीनता है अथवा कवि केवल अपनी पिपासा को कान्हा की कमनीय रूप-सुधा से अभिसिंचित करने के लिए हर अन्य घटना को उसके रूप के समक्ष तुच्छ समझकर उदासीन वना है,

---

१. सूरदास . आजार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १५३।

कौन कहे ? पर इतना अवश्य है कि भगवान के रूप-वर्णन व लीला-वर्णन मे पुनरावृत्ति करता हुआ भी कवि थकता नही। उसे इसका विचार भी शायद ही आता हो, क्योकि पीने वाला तो पीना ही चाहता है, बस अन्य किसी बात से उसे सरोकार नही होता और हमारा कवि भी कान्हा की रूप-सुधा का पान करता चला जाना चाहता है, उस समय वह अपने को भी भूला रहता है, फिर पुनरावृत्ति की कौन सोचे। यही भावात्मकता, तल्लीनता, एकरूपता सूर के काव्य का प्राण है, जिसके समक्ष समस्त दूपण भूपण बन जाते है। सूर के विशाल मानस मे भाव रस का इतना उद्रेक था कि वह हठात् वाणी के वेग को तोडता हुआ फूट पडा है। कृष्ण के सौन्दर्य, हाव-भाव और व्यापारो के चित्रण मे, ब्रजवासी नर-नारियो के भाव-प्रकाशन मे, गोपियो के प्रेम-प्रसग एव गोप बालाओ के बाल-सखा सुलभ क्रीड़ाओ के अकन मे, सूर की समता कोई कर सकेगा, इसमे सन्देह है।

सूर की अनुभूति एव अभिव्यक्ति इतनी सहज है कि वह अनपढ अनगढ दृष्टिहीन चितेरा ऐसे-ऐसे चित्र अकित कर गया है कि उनके समक्ष आँख वालों के चित्र भी रूप-रंग-हीन एव फीके प्रतीत होते हैं। जीवन के अत्यन्त सीमित क्षेत्र को लेकर लिखने वाले सूर के पदों की गीतात्मकता तो तुलसी जैसे प्रकाण्ड विद्वान कवि मे भी दृष्टिगत नही होती। तुलसी की 'विनय पत्रिका' निजानुभूतिपरक होते हुए भी शब्दो की दुरूहता-क्लिटता एव कही-कही भावो की गूढता के कारण रस-हीन प्रतीत होती है, पर सूर के दृष्टकूट पद भी अपनी मनोहारिता को बनाये रखने मे असमर्थ नही रहे है।

यह बात नही कि प्रबन्धात्मकता का निर्वाह सूर ने नही किया। सूर ने पनघट प्रस्ताव, वस्त्र हरण लीला, श्री राधा कृष्ण मिलन, कालिया दमन लीला, चीर हरण लीला, गोवर्धन लीला, दान लीला, मान लीला, भ्रमर गीत आदि मे अपने प्रबन्ध चातुर्य का परिचय दिया है। पर ये रचनाएँ प्रबन्ध होते हुए भी उनके प्रत्येक पद मे गीतात्मकता की वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति अवश्य दृष्टिगत होती है और उसका कोई भी पद अपने मे परिपूर्ण माना जा सकता है। मतलब यह है कि सूर के समस्त पद अपनी गेयता का गुण तो लिये ही है, इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे स्वयं भगवान मुकुन्दविहारी के सम्मुख गा गाकर उन्हे रिझाया करते थे।

चरित सम्बन्धी पद, विशिष्ट क्रीड़ा सम्बन्धी पद, रूप-चित्रणात्मक पद,

मुरलीवादन सम्बन्धी पद, भाव-चित्रण सम्बन्धी पद, तथा फुटकर पद सभी अपने मे गेयत्व की विशेषता एवं गीतात्मकता के गुण लिये हुए है।

कृष्ण कथा के विभिन्न प्रसगो पर रचित वर्णनात्मक एव कथात्मक पद-समूह भी यदि पृथक् करके देखे जायँ तो सूरसागर का दशम स्कन्ध कृष्ण चरित सम्बन्धी स्फुट पदो, स्फुट पद-समूहो और गीत शैली मे रचित कथा प्रसंगो अथवा लीलाओ का समूह मात्र जान पडेगा। उनकी प्रबन्ध रचनाओ को भी मुक्तक प्रबन्ध-रचना कहना उचित होगा, जिनका पूर्वापर सम्बन्ध जोडना पडता है।

रचना शैली की दृष्टि से सूर की गीति काव्य मे विविधता पाई जाती है। उनमें कला गीत, शुद्ध गीत परिष्कृत लोक गीत, छन्दात्मक पद, दृष्टकूट पद आदि विविध रूप मिलते हैं।

सूरदास के गीतों की सगीतात्मकता, कलात्मकता, भाव, भाषा शैली के कारण उनके समस्त गीतो को कला-गीतो के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है।

सूर के गीतो मे लोक-गीतो के अस्तित्व की पूर्णतया रक्षा हुई है, मात्र वह लोक-गीतो का सा अनपढपन नही है। वे सुन्दर, परिष्कृत एव भाव गर्भित भाषा के योग से अधिक प्रभावशाली एव आकर्षक हो गये है। सूर के गीतो के उदाहरण देना मेरी दृष्टि मे कोई महत्व नही रखता, उनका हरेक पद अपने मे अपना काव्य-सौष्ठव एव अनूठापन लिये है। सूर ने केवल भाव पक्ष मे ही नही, गीति शैली के कलेवर मे भी नवीनता का सचार किया है और उनके हाथो मे पडकर ही गीति शैली पूर्णता को प्राप्त हुई है, मँज सी गयी है। सम्भवत. यही भाव मन में जग उठे कि—

> सुआ चलु वा वन को रसु लीजै।
> जा वन कृष्ण नाम-अनिरित-रस श्रवन पात्र भरि पीजै॥

और वास्तव मे हमारा मन रूपी पछी भी गीतो का वास्तविक रस-पान करने के लिए जहाज के पछी की तरह लौट-लौट कर सूर के पदो की ओर दौड पडना और यही कहता प्रतीत होता है—

> मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
> जैसे उडि जहाज कौ पछी फिर जहाज पर आवै॥

कमल नैन को छाँडि महातम, और देव को ध्यावै ।
परम गंग को छाँडि पियासो, दुरमति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यौ, क्यों करील फल खावै ।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥
(सूरसागर—विनय, १६८)

उपसंहार—सूरदास एक भक्त कवि थे और उनका उद्देश्य साहित्य साधना न रहकर साहित्य के माध्यम से अपने आराध्य के प्रति अपनी आस्था एव प्रेमोद्गारों की अभिव्यक्ति था। पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित सूर को गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'पुष्टि मार्ग का जहाज' कहकर सम्बोधित किया है जिससे स्पष्ट होता है कि सूर पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तो का सुज्ञाता एवं सुवाहक था जो वाणी के माध्यम से जन-मन तक उनको वहन कर जाने मे समर्थ था। सूर ने भक्ति भावना पर प्रकाश डालते हुए एव पुष्टि मार्ग की विशिष्ट भाव धारा समझाते हुए—कान्ता भाव की भक्ति अथवा मधुरा भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है—

भजि सखि-भाव भाविक देव ।
कोटि साधन करो कोऊ, तऊ न मानै सेव ॥
धूमकेतु-कुमार माँग्यौ, कौन मारग प्रीति ।
पुरुष ने तिय भाव उपज्यो, सबै उलटी रीति ॥
बसन भूषन पलटि पहर, भाव सो मजोय ।
उलटि मुद्रा दई अकन, वरन सूधे होय ॥
वेद विधि को नैम नहिं, जहाँ प्रेम की पहचान ।
ब्रज वधू वस किये मोहन, 'सूर' चतुर सुजान ॥[1]

सूर के विनय के पदो मे उस युग की छाप मिलती है कि किस तरह लोक जीवन भोग विलास मे ही जीवन की सार्थकता समझे हुए था। ऐसे जीवन के प्रति अरुचि उपजाकर सूर जनसाधारण की भक्ति-भावना से स्नात्रिन करने के लिए प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं। विनय के पदो मे जो स्वीकारोक्तियाँ हैं, वे अन्त साक्ष्य का आधार नही मानी जा सकतीं।

सूर पर भी आचार्य महाप्रभु से दीक्षा लेने के पूर्व शिवोपासना का

---

१. सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ६२।

प्रभाव लक्षित होता है। सूर से पूर्व प्रचलित अन्य भाव धाराओं—निर्गुणोपासना, योग साधना (नाथ सम्प्रदाय) ने पारिवारिक जीवन की ओर जन-साधारण को उदासीन बना दिया था। निवृत्ति मार्ग पर चलते हम आये दिन अपने अधिकारों से वंचित होते रहते थे, अत. जीवन के प्रति उदासीनता समाज के लिए हितकर नही थी। फिर ईश्वरानुभूति के लिए जन-साधारण के सम्मुख रखे हुए ज्ञान एव जोग (योग) के मार्ग बीहड मार्ग थे, जिसको अपनाने की सामर्थ्य जनसाधारण के लिए सम्भव नही थी। सूरदास ने भ्रमर गीत के प्रसंग द्वारा ज्ञान पर प्रेम की, योग पर भक्ति की एवं निर्गुणोपासना के स्थान पर सगुणोपासना की स्थापना कर जनसाधारण के लिए भक्ति के मार्ग का स्वरूप गोपी-भाव के माध्यम से प्रकट किया और गोपी के मुख द्वारा युग की भाव धारा को मुखरित किया—

ऊधौ जोग जोग हम नाही।[1]

और अन्त मे निर्गुणोपासक ऊधौ को सगुणोपासक बनाकर भक्ति की विजय पताका फहरायी है—

अब अति चकितवत मन मेरौ।
आयौ हौ निरगुन उपदेसन भयौ सगुन कौ चेरौ॥[2]

कान्ता भाव की भक्ति अथवा मधुरा भक्ति सबके लिए सम्भव नही है, वह भक्ति की चरम सीमा है। सूरदास ने भक्ति के अन्य रूपो का भी सविस्तार वर्णन किया है। स्वामी-सेवक भाव की भक्ति, सख्य भाव की भक्ति, वात्सल्य भाव की भक्ति—इन तीन प्रकार की भक्ति से समाज की व्यवस्था मे सहायता प्राप्त होती है। सूर ने सुदामा और कान्हा की मित्रता के माध्यम से सख्य भक्ति पर प्रकाश डालते हुए समाज मे बनी विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया है, ऊँच-नीच के, निर्धन-अमीर के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया है। वात्सल्य के माध्यम से परिवारो के जीवन के प्रति अनुराग की भावना जगाई है।

दूसरी ओर कान्हा के असुर-निकन्दन रूप द्वारा डरी-सहमी जनता

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध, पद ४५४२।
२. वही, पद ४६९७।

को भाव वल देने का भी प्रयत्न किया है कि भगवान नित्य ही भक्त की रक्षा के लिए तत्पर रहते हैं। तुलसी के लिए पृष्ठभूमि सूर ने तैयार की थी। तुलसी से पूर्व सूर का अविर्भाव न होता तो सम्भवतः तुलसी को वह सफलता न मिलती जो मिली है। सूर के आराध्य लीला कृष्ण का आकर्षक रूप हिन्दुओं को एक वार पुनः भक्ति भावना के माध्यम से अपने कर्म एवं संस्कृति की ओर करने मे पूर्ण सफल हुआ है। श्रीमद्भागवत हमारी पुरातन संस्कृति के स्वरूप पर प्रकाश डालता है और हम जो अपनी सास्कृतिक रचनाओं के प्रति भाषा के कारण उदासीन वनते चले जा रहे थे, सूर ने अपनी सरस एवं सरस वाणी मे उसे आसक्ति मे वदलकर जन-मन-परिष्कार का महत्त्वपूर्ण काम किया है।

सूरसागर मे आये हुए सम्बन्धो के सहज स्नेह मय वर्णन से सामाजिक एवं परिवारिक सम्वन्धों पर प्रकाश तो पड़ता ही है, उनको प्रेरणा भी प्राप्त होती है।

सूर का मूल स्वर है कृष्ण भक्ति और सूर साहित्य मे अवगाहन करने वाला कान्हा की प्रेम की पुकार करने वाली वाँसुरी के स्वर एवं तान पर विमुग्ध हुए विना नही रह सकता।

चतुर्थ खण्ड

सूर पदावली
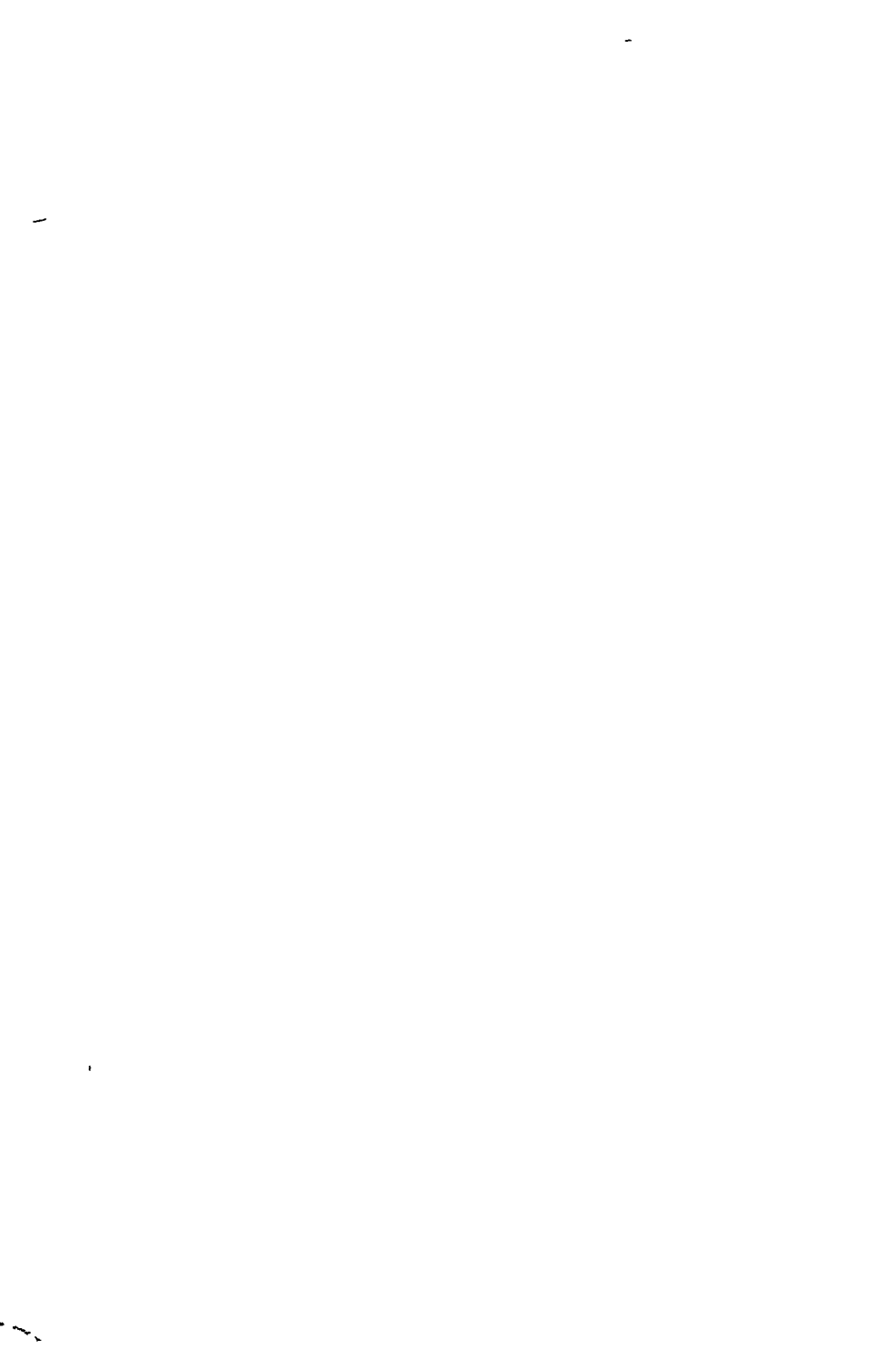
सूर पदावली

राग बिलावल

चरन-कमल वंदौ हरि-राई।
जाकी कृपा पंगु[1] गिरि लंघै, अंधे[2] कौं सब कछु दरसाई।
बहिरौ[3] सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक[4] चले सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार वंदौ तिहिं पाई ।।१।।

राग कान्हरौ

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगै मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित[5] तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै ।।२।।

राग सारंग

गोविंद प्रीति सबन की मानत।
जेहि जेहि भाय करी जिन सेवा अन्तर्गत को जानत।
शबरी कटुक बेर तजि मीठे भाषि गोद भरि लाई।
जूँठे की कछु शङ्क न मानी भक्ष किये सति-भाई।
सन्तन भक्त मित्र हितकारी श्याम विदुर कै आये।
अति रस बाढो प्रीति निरन्तर साग मगन ह्वै खाये।

---

(१) लूला, जैसे सूर्य का सारथी अरुण (२) स्वयं सूरदास (३) सर्पों के कान नहीं होते, पर वे सुनते हैं (४) जैसे सुदामा (५) अत्यन्त।

कौरव काज चले ऋषि शापन सागहि पत्र अघाये ।
सूरदास करुणा-निधान प्रभु युग-युग भक्त बढाये ॥३॥

राग रामकली

शरण गए प्रभु को न उवारथौ ।
जब जब भीर परी सन्तन पै चक्र सुदर्शन तहाँ सँभारथौ ।
भयौ प्रसाद जु अम्बरीष कौं दुर्वासाकौ क्रोध निवारथौ ।
ग्वालन हेतु धरथौ गोवर्धन प्रकट इन्द्र कौ गर्व प्रहारथो ।
कृपा करी प्रह्लाद भक्त पै खम्भ फारि उर नखन विदारथौ ।
नरहरि रूप धरथौ करुनाकरि छिनक माँहि हिरनाकुस मारथौ ।
ग्राह ग्रसत गजको जल बूड़त नाम लेत वाकौ दुख टारथौ ।
सूरश्याम विनु और करै को रङ्ग-भूमि मे कंस पछारथौ ॥४॥

राग केदारा

जनकी और कौन पत[1] राखै ।
जाति पाँति कुलकानि न मानत वेद पुराणनि साखै ।
जेहि कुल राज द्वारका कीनौ सो कुल साप विनास्यौ ।
सोइ मुनि अम्बरीष के कारण तीन भुवन भ्रमि त्रास्यौ ।
जाकौ चरणोदक शिव धारथौ तीन लोक हितकारी ।
तिन प्रभु पाण्डुसुतन के कारण निज कर चरण पखारी ।
वारह बरस वसुदेव देवकी कंस महा डर दीन्यौ ।
तिन प्रभु प्रह्लादहि सुमिरत ही नरहरि रूप जु कीन्यौ ।
जग जानत जदुनाथ जिते जन निज भुज श्रम सुख पायौ ।
ऐसी को जो शरण गये ते कहत सूर इतरायौ ॥५॥

---

१. लज्जा ।

राग सारंग

जापर दीनानाथ ढरै।
सोई कुलीन वड़ौ सुन्दर सोइ जिनपर कृपा करै।
राजा कौन वड़ौ रावण ते गर्वहि खर्व गरै।
रंकहु कौन सुदामाहू ते आपु समान करै।
रूपसि कौन अधिक सीता ते जन्म वियोग भरै।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा ते हरि पति पाइ वरै।
योगी कौन वड़ौ शङ्कर ते ताकौं काम छरै।
कौन विरक्त अधिक नारद सौ निसिदिन भ्रमत फिरै।
अधम सु कौन अजामिलहू ते यम तहँ जात डरै।
सूरदास भगवंत भजन विन फिर-फिर जठर जरै।।६।।

राग देवगान्धार

जाकी मनमोहन अङ्ग करे।
ताकौं केस खसै नहि सिरते जो जग बैर परै।
हिरनकशिपु परिहार[1] थक्यौ प्रह्लाद न नेकु डरै।
अजहूँ तो उत्तानपादसुत राज्य करत न मरै।
राखी लाज द्रुपदतनया की कोपित चीर हरै।
दुर्योधन कौ मान भङ्ग करि वसन प्रवाह भरै।
विप्रभक्त नृग अन्ध कूप दियो बलि पढ़ि वेद छरै।
दीन दयालु कृपालु कृपानिधि कापै कह्यौ परै।
जो सुरपति कोप्यौ व्रज ऊपर कहिधौ कछु न सरै।

---

(१) प्रहार कर।

राखे ब्रजजन नन्द के लाला गिरिधर विरद धरै।
जाको विरद है गर्वप्रहारी सो कैसे बिसरै।
सूरदास भगवन्त भजन करि शरण गहै उधरै।७।।

राग सोरठ

हरि तेरी माया कौन बिगोयौ।
सौ योजन मर्याद सिन्धु कौ पलमें राम विलोयौ।
नारद मगन भये माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयौ।
साठ पुत्र अरु द्वादश कन्या कण्ठ लगाये जोयौ।
सङ्कर को चित हरयौ कामिनी सेज छोड़ि भुव सोयौ।
जारि मोहिनी आढ़ कियौ तब नख शिखते रोयौ।
सौ भैया राजा दुर्योधन पल मे गरद समोयौ।
सूरजदास कॉच अरु कंचन एकहि धगा पिरोयौ।।८।।

राग बिहागरा

हरि तेरौ भजन कियौ न जाइ।
कहा कहूँ तेरी प्रबल माया देति लहर बहाइ।
जबै आऊँ साध सङ्गति कछुक मन ठहराइ।
ज्यौ गयन्द[1] अन्हाइ सरिता बहुरि बहै सुभाइ।
वेष धरि धरि हरयौ परधन साधु साधु कहाइ।
जैसें नटुवा लोभ कारण करत स्वाँग बनाइ।
करौ यतन न भजौं तुमकौं कछुक मन उपजाइ।
सूर हरिकी प्रबल माया देति मोहिं लुभाइ।।९।।

---

(१) हाथी।

माधव जू मन माया वश कीनौ ।
लाभ हानि कछु समुझन नाहीं ज्यों पतंग तनु दीनौ ।
गृह दीपक छन तेल तूल तिय सुत ज्वाला अति जोर ।
मैं मतिहीन मर्म नहिं जान्यौं परौ अधिक करि दोर ।
विवश भयौ नलिनी के शुक ज्यौ बिनु गुन मोहिं गह्यौ ।
मैं अज्ञान कछू नहिं समुझौ परदुख पुञ्ज सह्यौ ।
बहुतक दिवस भए या जग में भ्रमत फिर्यौ मतिहीन ।
सूर श्यामसुन्दर जो सुमिरै क्यों होवै गति दीन ।१०।

राग धनाश्री

कितक दिन हरि सुमिरन बिनु खोये ।
परनिन्दा रसना[1] के रस मैं अपने पर तर बोये ।
तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन वेखहिं मलि मलि धोये ।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै विपयनिके मुख जोये
कालवली ते सब जग कम्पत ब्रह्मादिक हूँ रोये ।
सूर अधम की कहौ कौन गति उदर भरे परि सोये ।११।

राग केदारा

माधव जू नेंकु हटकौ[2] गाइ ।
निसि बासर यह भरमति इत उत अगह गही नहिं जाइ ।
क्षुधित बहुत अघात नाहीं निगम द्रुमदल खाइ ।
अष्ट दस घट नीर अचवै तृषा[3] तउ न बुझाइ ।
छहूँ रस हूँ धरत आगे बहै गन्ध सहाइ ।
और अहित अभक्ष भक्षति गिरा वरणि न जाइ ।
व्योम धर नद शैल कानन इते चर न अघाइ ।

(१) जिह्वा (२) रोको (३) प्यास ।

ढीठ निठुर न डरति काहू त्रिगुण ह्वै समुझाइ।
हरै न खल बल दनुज मानव सुरनि शीश चढ़ाइ।
रचि बिरञ्चि मुख भौह छबीले चलति चितहि चुराइ।
नील खुर जाके अरुन लोचन श्वेत सीग सुहाइ।
नारदादि शुकादि मुनि जन थके करत उपाइ।
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सकहि सूर चराइ ॥१२॥

राग सोरठ

अबकै राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि[1] साधे बान।
जाके डर भाग्यौ चाहत है ऊपर ढुक्यौ सचान[2]।
दुवौ भाँति भयो आनि यह कौन उवारै प्रान।
सुमिरत ही अहि[3] डस्यौ पारधी कर छुटे सन्धान[4]।
सूरदास सर लग्यौ सचानहिं जय जय कृपानिधान ॥१३॥

राग केदारा

अबके नाथ मोहिं उधारि।
मगन हौ भव अम्बुनिधि[5] में कृपासिन्धु मुरारि।
नीर अति गम्भीर माया लोभ लहर तरङ्ग।
लये जाति अगाध जल मे गहे ग्राह अनंग[6]।
मीन[7] इन्द्रिय अतिहि काटति मोट अघ सिरभार।
पग न इत उत धरन पावत उरजि मोह सिवार।
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर।

---

(१) शिकारी (२) बाज (३) साँप (४) निशान (५) संसार रूपी समुद्र (६) कामदेव (७) मछली।

थक्यौ बीच बिहाल बिह्वल सुनौ करुणामूल ।
श्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर व्रज के कूल ।।१४।।

राग सारंग

माधव जू मन हठि कठिन पर्‌यो ।
यद्यपि विद्यमान सब निरखत दुःख शरीर मर्‌यो ।
बारबार निशि दिन अति आतुर फिरत दसौ दिशि धाये ।
ज्यौ सुख सेंवर फूल बिलोकत जात नही बिन खाये ।
युग युग जन्म मरन अरु बिछुरन सब समुझत मति भेव ।
ज्यों दिन कौं उलूक नहि मानत परी आनि यह टेंव ।
हौ कुचील मतिहीन सकल विधि तुम कृपालु जग जान ।
सूर मधुप निशि कमल कोस बस करौ कृपा दिनमान ।।१५।।

राग सारंग

माधव जू मन सब ही विधि पोच ।
अति उन्मत्त निरंकुश मैगल[1] चिन्ता रहित असोच ।
महा मूढ़ अग्यान तिमिर में मग्न होत सुख मानि ।
तेली केर वृषभ ज्यों भरम्यौ भजत न सारँगपानि ।
गीध्यौ ढीठ हेम[2] तस्कर[3] ज्यों अति आतुर मति मन्द ।
लुब्धौ आनि मीन आमिष ज्यों अवलोक्यौ नहि फन्द ।
ज्वाला प्रीति प्रगट सन्मुख हठि ज्यौ पतंग तनु जार्‌यौ ।
विषय असक्त अमित अघ व्याकुल तवहूल कछुत सँभार्‌यौ ।
ज्यौ कपि शीत हुतासन[4] गुञ्जा सिमटि होत लवलीन ।
त्यौ शठ वृथा तजत नहि कवहूँ रहत विषय अधीन ।

---

(१) मस्त हाथी (२) सोना (३) चोर (४) आग ।

सेंवर फूल सुरंग शुक निरखत मुदित होत खग भूप।
परसत चोंच तूल उघरत मुख परत दुःख के कूप।
और कहाँलौं कहौ एक मुख या मनके कृत काज।
सूर पतित तुम पतित उधारन गहौ विरदकी लाज ॥१६॥

राग केदारा

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनै रुचि आन।
जरत ज्वाला गिरत गिरिते सुकर[1] काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत राखि सकत न ईस।
कामना करि कोपि कबहूँ करत कर पशु घात।
सिंह सावक जात गृह तजि इन्द्र अधिक डरात।
जा दिनाते जन्म पायौ यहै मेरी रीति।
विषय विष हठि खात नाही टरत करत अनीति।
थके किङ्कर यूथ यमके टारे टरत न नैक।
नरक कूपनि जाइ यमपुर पर्यौ बार अनेक।
महा माचल[2] मारिवे की सकुच नाहिन माहिं।
पर्यौ हौं प्रण किये द्वारें लाज प्रण की तोहिं।
नाहिनै काँचौ कृपानिधि करौ कहा रिसाइ।
सूर तबहुँ न द्वार छाँड़ै डारिहों कढ़राइ ॥ १७ ॥

राग धनाश्री

प्रभु मेरे गुण अवगुण न बिचारौ।
कीजै लाज शरण आये की रविसुत[3] त्रास निवारौ।

---

(१) अपने हाथों से (२) हठी (३) यमराज।

योग यज्ञ जप तप नहिं कीयौ वेद विमल नहिं भाख्यौ।
अति रस लुब्ध श्याम जूठनि ज्यों कहूँ नहीं चित राख्यौ।
जिहिजिहि योनि फिर्‌यौ सङ्कटवश तिहितिहि यहै कमायौ।
काम क्रोध मद लोभ ग्रसित भये विषय परम विष खायौ।
जो गिरिपति मसि[1] घोरि उदधिमें ले सुरतरु[2] बिज हाथ।
मम कृत दोष लिखै बसुधा भर तऊ नही मित नाथ।
कामी कुटिल कुचील कुदरशन अपराधी मतिहीन।
तुम समान और नहिं दूजौ जाहि भजौं ह्वै दीन।
अखिल अनन्त दयालु दयानिधि अविनाशी सुखरास।
भजन प्रताप नाहिं मैं जान्यों पर्‌यौ मोह की फाँस।
तुम सर्वज्ञ सबै विधि समरथ अशरण शरण मुरारि।
मोह-समुद्र सूर बूड़त है लीजै भुजा पसारि॥ १८॥

राग सारंग

तुम हरि साँकरे[3] के साथी।
सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुड़ायौ हाथी।
गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी वेद उपनिषद साखी।
वसन वढ़ाय द्रुपदतनया के सभा माँझ पत राखी।
राज रमनि गाई व्याकुल ह्वै दं दै सुतकौ धीरक।
मागध[4] हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु परपीरक।
कपट स्वरूप धर्‌यौ जब कोकिल नृप प्रतीत करि मानी।
कठिन परी तबही तुम प्रगटे रिपु हति सब सुखदानी।

---

(१) स्याही (२) कल्पवृक्ष (३) सङ्कट (४) जरासंध।

ऐंसे कहौं कहाँलौं गुणगण लिखत अन्त नहिं पइयैं ।
कृपासिन्धु उनकी के लेखे मम लज्जा निरवहियैं ।
सूर तुम्हारी ऐंसी निबही सङ्कट के तुम साथी ।
ज्यों जानौ त्यों करौ दीन की बात सकल तुम हाथी ।।१९।।

राग सारंग

तुम बिनु साँकरे को काकौ ।
तुम बिनु दीनदयालु देवमणि नाम लेउँ धौ काकौ ।
गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी हुतौ नहीं वश ताकौ ।
मेरी पीर परम पुरुषोत्तम दुख मेट्यौ दोउ घाँकौ ।
हौ करुणा मय कुञ्जर टेर्यौ रह्यौ नही बल जाकौ ।
लागि पुकार तुरत छुटकायो - काट्यौ बन्धन वाकौ ।
अम्बरीषकौं साप दैन गयौ बहुरि पठायौ ताकौ ।
उलटी गाढ़ परी दुर्वासा दहत सुदर्शन जाकौ ।
निधरक ह्वै पण्डवसुत डोलैं हुतो नहीं डर काकौ ।
चारौं वेद चतुर्मुख ब्रह्मा यश गावत है ताकौ ।
छोरी वृन्दि विदा करि राजा राजा होंइ कि राँकौ ।
जरासन्ध कौ जोर उधेर्यौ फारि कियौ द्वै फाँकौ ।
बसन ओट करि कोट विश्वम्भर परन न पायौ झाँकौ ।
भीर परे भीषमप्रण राख्यौ अर्जुनकौ रथ हाँकौ ।
रथते उतर चक्र कर लीनौ भक्तबछल प्रण ताकौ ।
गोपीनाथ सूर कौ स्वामी है समुद्र करुणाकौ ।
नरहरि हरि हरनाकुश मार्यौ काम पर्यौ हो वाकौ ।।२०।।

राग बिलावल

तुम गोपाल मोसौं बहुत करी ।
नर देही दीनी सुमिरन को मो पापी ते कछु न सरी ।

गर्भवास अति त्रास अधोमुख तहाँ न मेरी सुधि बिसरी ।
पावक[1] जठर जरन नहिं दीनौं कञ्चनसी मेरी देह धरी ।
जगमें जन्मि पाप बहु कीने आदि अन्तलौं सब बिगरी ।
सूर पतित तुम पतितउधारन अपने विरदकी लाज धरी ॥२१॥

राग धनाश्री

माधवजू जो जनते[2] विगरै ।
तउ कृपालु करुणामय केशव प्रभु नहिं जोय धरै ।
जैसे जननि जठर अन्तर्गत सुत अपराध करै ।
तऊ पुनि जतन करै अरु पौषै निकसै अङ्क भरै ।
यद्यपि मलय वृक्ष झड़ काटन कर कुठार पकरै ।
तऊ सुभाव सुगन्ध सुशीतल रिपु तनु ताप हरै ।
ज्यौं हल गहि धर धरत कृषीवल बारि वीज बिथुरै ।
सहि सन्मुख त्यौ शीत उष्णको सोई सफल करै ।
द्विज रम जानौ दुखित होइ वह तौ रिस कहा करै ।
यद्यपि अङ्ग विभङ्ग होत है लै समीप सँचरै ।
कारण करण दयालु दयानिधि निज भय दीन डरै ।
इहि कलिकाल व्याल मुख ग्रासित सूर सरन उबरै ॥२२॥

राग देवगान्धार

मोहिं प्रभु तुमसौं होड परी ।
ना जानौ करिहौ जु कहा तुम नागर नवल हरी ।
होतो जिती रह्यौ पति तौहू मैंतौ सबै गरो ।

(१) अग्नि (२) भक्त ।

पतित समूहनि उद्धरिवेकौं तुम जिय जक[1] पकरी।
मैं हूँ राजिवनैननि दुरि दुरि पाप पहार दरी।
पावहु मोहि कहौं तारनकौ गूढ़ गँभीर खरी।
एक अधार साधु संगति कौ रचि पचिकैं संचरी।
सोचि सोचि जिय राखी तौहू अपनी धरनि धरी।
मोकौ मुक्ति बिचारत हौ प्रभु पूंछत पहर घरी।
श्रमते तुम्हे पसीना ऐहैं कति यह जतनि करी।
सूरदास बिनती कहा विनवै दोषनि देह भरी।
अपनौं विरद सँभारहुगे तव यामें सव निबरी ॥२३॥

राग धनाश्री

कब तुम मोसौ पतित उधार्यौ।
पतितनि मे विख्यात पतित हौ पावन[2] नाम तुम्हार्यौ।
बड़े पतित पासँगहू नाहीं अजामिल कौन विचार्यौ।
भाजै नरक नाम सुनि मेरौ यमनि दियौ हठतारौ।
क्षुद्र पतित तुम तारि रमापति जिय जु करौ जिन गारौ।
सूर पतितकौ ठौर कहूँ नहिं है हरि नाम सहारौ ॥२४॥

राग धनाश्री

तुम कब मोसौ पतित उधार्यौ।
काहे को प्रभु विरद बुलावत विन मसकत[3] को तार्यो।
गीध व्याधि गज गौतमकी तिय उनकौ कहा निहोरो।
गणिका तरी आपनी करनी नाम भयो प्रभु तोरो।

---

(१) हठ (२) पवित्र (३) परिश्रम।

अजामील तो विप्र तुम्हारो हुतो पुरातन दास ।
नैंक चूकते यह गति कीनी फिर वैकुण्ठहि बास ।
पतित जानि तुम सब जन तारे रह्यौ न काहू खोट ।
तौ जानौ जो मोंहि तारिहौ सूर कूर कवि टोट ॥२५॥

राग धनाश्री

आजु हौ एक एक करि टरिहौं ।
कै हमही के तुमही माधव अपुन भरोसे लरिहौं ।
हौ तौ पतित अहौ पींढिनकौ पतितें ह्वै निस्तरिहौं ।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्है विरद बिनु करिहौ ।
कत अपनी परतीत नसावत मैं पायौ हरि हीरा ।
सूर पतित तवही लै उठिहै जब हँसि देहौ बीरा ॥२६॥

मोसो बात सकुचि तजि कहिये ।
कत भरमावत हौ तुम मोकौ कहु काके ह्वै रहिये ।
कैधौ तुम पावन प्रभु नाही कै कछु मोमें जोलौ !
तौ ही अपनी फेरि सुधारौ वचन एक जो वोलौ ।
तीनौ पनमे और निबाही इहै स्वागकौ काछे ।
सूरदास कौ यहै वड़ो दुख परत सबन के पाछे॥२७॥

राग सारंग

प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ[1] ।
और पतित सब दिवस चारिके हौ जन्मत वाही कौ ।

---

(१) नामी ।

बधिक अजामिल गणिका तारी और पूतना ही को ।
मोहि छाँड़ि तुम और उधारे मिटै शूल क्यों जीको ।
कोउ न समरथ अघ करिबेको खेंचि कहत ही लीको ।
मरियत लाज सूर पतितनिमें हमहूँते को नीको ॥२८॥

राग सारंग

हौंतो पतितशिरोमणि माधौ ।
अजामील बातनहीं तार्यौ सुन्यौ जो मोते आधौ ।
कै प्रभु हार मानिकै बैठहु कै अबहीं निस्तारौ ।
सूर पतितको औरठौर नहिं है हरि नाम सहारौ ॥२९॥

राग सारंग

माधो जू और न मोते पापी ।
घातक कुटिल चवाई कपटी महाक्रूर संतापी ।
लम्पट धूत पूत दमरीको विपय जापको जापी ।
भक्ष अभक्षअपेय पान करि कबहुँ न मनसा धापी ।
कामी विवस कामिनीके रस लोभ लालसा थापी ।
मन क्रम वचन दुसह सबहिनसो कटुक वचन आलापी ।
जेतिक अधम उधारे तुम प्रभु तिनकी गति मैं नापी ।
सागर सूर भर्यो विकार जल पतित अजामिल बापी ॥३०॥

राग धनाश्री

हरि हौं सब पतितनको नायक ।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक ।
जैसो अजामील कौं दीनो सो पट्टो लिखि पाऊँ ।
तौ विश्वास होइ मन मेरे औरौ पतित बुलाऊँ ।

यह मारग चौगुनौ चलाऊँ तो पूरौ व्यापारी।
वचन मानि लै चलौं गाँठि दै पाऊँ सुख अति भारी।
यह सुनि जहाँ तहाँते सिमिटे आइ होइँ इक ठौर।
अब कै तौ अपनी लै आयौ बेर बहुर[1] की और।
होड़ा होड़ी मनहि भावते किये पाप भरि पेट।
सबै पतित पाँइन तर डारौ इहै हमारी भेंट।
बहुत भरोसौ जानि तुम्हारो अघ कीनौ भरि भाँड़ो।
लीजै बेगि निवेरि तुरन्तहि सूर पतितको टाँड़ौ ॥३१॥

राग धनाश्री

मोसौ पतित न और गुसाईं।
अवगुण मोते अजहुँ न छूटत भली तजी अब ताँईं।
जन्म जन्म मोही भ्रमि आयौ कपि गुञ्जाकी नाँईं।
परसत सीत जाति नहिं क्योहूँ लै लै निकट बनाई।
मोह्यो जाइ कनक कामिनिसों ममता मोह बढ़ाई।
जिह्वा स्वाद मीन ज्यों उरझ्यौ सूझत नाहिं फन्दाई।
सोवत मुदित भयौ सपनेमे पाई निधि जु पराई।
जागि पर्यो कछु हाथ न आयौ जगकी प्रभुताई।
परसे नाँहि चरण गिरिधर के बहुत करी अन्याई।
सूर पतित कौ ठौर और नहिं राखि लेहु शरणाई ॥३२॥

राग धनाश्री

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोधकौ पहिरि चोलना कण्ठ विषयकी माल।

---

(१) दुवारा।

महामोहको नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।
भरम भरो[1] मन भयौ पखावज[2] चलत कुसंगत चाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल।
मायाको कटि फेंटा बाँध्यौ लोभ तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल।
सूरदासकी सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल ।।३३।।

राग धनाश्री

बादहि[3] जनम गयौ सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरुकी सेवा मधुबन बस्यौ न जाइ।
अब की बेर मनुष्य देह धरि भजौ न आन उपाइ।
भटकत फिर्यो श्वानकी नाईं नैक जूठके चाइ।
कबहुँ न रिझये लाल गिरिधरन विमल विमल यश गाइ।
प्रेम सहित पग बाँधि घूँघरू सक्यौ न अङ्ग नचाइ।
श्रीभागवत सुन्यौ नहिं श्रवननि नैकहुँ रुचि उपजाइ।
अनन्य भक्ति नरहरि भक्तनिके कबहूँ धोए पाइ।
कहा कहौ जो अद्भुत है वह ऐसे कहूँ बनाइ।
भव अम्बोधि नाम नव नौका सूरहि लेउ चढाइ ।।३४।।

राग कल्याण

जैसे राजहु तैसेहि रहौं।
जानत दुख सुख सब जनके तुम मुख करि कहा कहौं।
कबहुँक भोजन लहौं कृपानिधि कबहूँ भूख सहौं।
कबहुँक चढौ तुरङ्ग[4] महागज कबहुँक भार वहौ।

(१) वस्त्र (२) मृदग (३) व्यर्थ (४) घोड़ा।

कमल नयन घनश्याम मनोहर अनुचर भयो रहौ।
सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि तुम्हरे चरण गहौ ॥३५॥

राग खंबावती–त्रिताला

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ।
इक नदिया इक नार कहावत मैलौ नीर भरौ।
जब मिलि गए तब एक वरन ह्वै गंगा नाम परौ।
तन माया, ज्यों ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इनकौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ ॥३६॥

राग मुलतानी–त्रिताला

अब मेरी राखौ लाज मुरारी
संकट मे इक संकट उपजौ, कहै मिरग सौ नारी।
और कछू हम जानति नाही, आई सरन तिहारी।
उलटि पवन जब बावर जरियौ, स्वान चल्यो सिर भारी।
नाचन-कूदन मृगिनी लागी चरन कमल पर वारी।
सूर स्याम-प्रभु अविगत-लीला, आपुहि आपु सँवारी ॥४७॥

राग मलार

आजु जौ हरि को न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौ, सांतनु-सुत न कहाऊँ।
स्यंदन खंडि महारथि खंडौ, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पांडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता[1] रुधिर बहाऊँ।

(१) नदी।

इती न करों सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहि न पाऊँ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ।४८।

राग बिलावल

हम भक्तनि के, भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन परितिज्ञा मेरी, यह ब्रत टरत न टारे।
भक्तनि काज लाल जिय धरि कै, पाइ पियादे धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तनि कौ, तहँ-तहँ जाइ छुड़ाऊँ।
जो भक्तनि सौ वैर करत है, सो बैरी निज मेरौ।
देखि बिचारि भक्त-हित-कारन, हाँकत हौ रथ तेरौ।
जीतै जीति भक्त अपनै के, हारै हारि बिचारौं।
सूरदास सुनि भक्त-बिरोधी, चक्र सुदरसन जारौ ।।४६।।

राग मलार

वा पट पीत की फहरानि।
कर धरि चक्र, चरन को धावनि, नहिं बिसरति वह बानि।
रथ तैं उतरि चलनि आतुर ह्वै, कच[1] रज[2] की लपटानि।
मानौ सिंह सैल[3] तैं निकस्यौ, महा मत्त गज जानि।
जिन गोपाल मेरौ प्रन राख्यौ, मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाइ हमारे, निकट भए है आनि।। ५० ।।

राग सारंग

जनम सिरानौ[4] अटकै-अटकै।
राज-काज, सुत-वित[5] को डोरी, बिनु बिबेक फिरयौ भटकै।

(१) बाल (२) धूल (३) पहाड (४) बीतगया (५) धन।

कठिन जो गाँठि परी माया की, तोरी जाति न भटकैं।
ना हरि-भक्ति, न साधु-समागम, रह्यौ बीचही लटकैं।
ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै, लोभ न छूटत नट कैं।
सूरदास सोभा क्यौं पावै, पिय-विहीन धनि भटकै ।।४१।।

राग धनाश्री

सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनौं पन ऐसैं ही खोए, केस भए सिर सेत।
आँखिनि अंध, स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत।
मन-वच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छाँड़ि क्यौं भटकै, अजहूँ चेति अचेत।
राम नाम विनु क्यौ छूटौगे, चंद गहैं ज्यौ केत[1]।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम-नाम मुख लेत ।।४२।।

राग सारंग

तजौ मन, हरि-विमुखनि कौ संग।
जिनकैं संग कुमति उपजति है, परत भजन में भंग।
कहा होत पय[2] पान कराऐं, विष नहिं तजत भुजंग[3]।
कागहिं कहा कपूर चुगाऐं, स्वान[4] न्हवाऐं गंग।
खर[5] कौं कहा अरगजा-लेपन मरकट[6] भूषन-अङ्ग।
गज कौ कहा सरित अन्हवाऐं, बहुरि धरै वह ढंग।

---

(१) केतु नामक ग्रह (२) दूध (३) साँप (४) कुत्ता (५) गधा (६) वन्दर।

पाहन[1] पतित बान नहिं बेधत, रीतौ करत निषंग ।
सूरदास कारी कामरि पै, चढत न दूजौ रंग ।।४३ ।।

राग देवगांधार

चकई री, चलि चरन-सरोबर, जहाँ न प्रेम-बियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग ।
जहाँ सनक-सिव हँस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर गुंजत निगम सुबास ।
जिहिं सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै ।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहाँ रहि कीजै ।
लछमी-सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस ।।४४।।

राग केदारो

सोइ रसना, जो हरि-गुन गावै ।
नैननि की छबि यहै चतुरता, जो मुकुंद-मकरंदहिं ध्यावै ।
निर्मल चित तौ सोई साँचौ, कृष्न बिना जिहिं और न भावै ।
स्रवननि की जु यहै अधिकाई, सुनि हरि-कथा सुधा-रस पावै ।
कर तेई जे स्यामहिं सेवै, चरननि चलि बृन्दाबन जावै ।
सूरदास जैयै बलि वाकी, जे हरि जू सौं प्रीति बढ़ावै ।।४५।।

राग सारंग

भजन बिनु जीबत जैसैं प्रेत ।
मलिन मंदमति डोलत घर-घर, उदर भरन कैं हेत ।
मुख कटु वचन, नित्त पर-निंदा संगति-सुजग न लेत ।

---

(१) पत्थर ।

कवहूँ पाप करैं पावत धन, गाड़ि धूरि तिहि देत।
गुरु-ब्राह्मन अरु संत-सुजन के, जात न कबहुँ निकेत[1] ॥
सेवा नहिं भगवंत-चरन की, भवन नील कौ खेत।
कथा नही गुन गीत सुजस हरि, सब काहूँ दुख देत ॥
ताकी कहा कहौ सुनि सूरज, बूड़त कुटुँब समेत ॥४६॥

राग धनाश्री

जौ लौ मन-कामना न छूटै।
तौ कहा जोग-जज्ञ-व्रत कीन्है, बिनु कन तुस[2] कौं कूटै ॥
कहा सनान किये तीरथ के, अङ्ग भस्म, जट-जूटै ?
कहा पुरान जु पढ़ै अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूटैं।
जग सोभा की सकल वड़ाई, इनतै कछु न खूटै।
करनी और, कहै कछु औरै, मन दसहूँ दिसि टूटै।
काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु है, जो इतननि सौं छूटै।
सूरदास तबहीं तम नासै, ज्ञान-अगिनि-झर फूटै ॥४७॥

राग नट

अपुनपौ आपुन ही बिसरयौ।
जैसैं स्वान काँच-मंदिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि परयौ।
ज्यौ सौरभ[3] मृग-नाभि वसत है, द्रुम-तृन सूँघि फिरयौ।
ज्यौ सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर[4] अरि[5] पकरयौ।
ज्यौ केहरि[6] प्रतिविंव देखि कै, आपुन कूप परयौ।
जैसैं गज लखि फटिकसिला मैं, दसननि जाइ अरयौ।

---

(१) घर (२) भुसी (३) सुगन्धि (कस्तूरी) (४) चोर (५) शत्रु (६) शेर।

मरकट[1] मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर-घर-द्वार फिर्यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनैं पकर्यौ ॥४८॥

राग बिलावल

आपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यौं कुरंग[2]-नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायौ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि, अपनैं ही तन छायौ।
राज-कुमारि कंठ-मनि-भूषन भ्रम भयौ कहूँ गँवायौ।
दियौ बताइ और सखियनि तब, तनु कौ ताप नसायौ।
अपने माहिं नारि कौ भ्रम भयौ, बालक कहूँ हिरायौ[3]।
जागि लख्यौ, ज्यौ कौ त्यौं ही है, ना कहुँ गयौ न आयौ।
सूरदास समुझे की यह गति, मनहीं मन मुसुकायौ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगें गुर खायौ ॥४९॥

२. बाल लीला

राग रामकली

हौं इक नई बात सुनि आई।
महरि जसोदा ढोटा[4] जायौ, घर-घर होति बधाई।
द्वारैं भीर गोप-गोपिनि की, महिमा बरनि न जाई।
अति आनंद होत गोकुल मैं, रतन भूमि सब छाई।
नाचत वृद्ध, तरुन अरु बालक, गोरस-कीच मचाई।
सूरदास स्वामी सुख-सागर, सुन्दर-स्याम कन्हाई ॥५०॥

---

(१) बन्दर (२) हिरन (३) खो गया (४) पुत्र।

राग धनाश्री

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौ आउ निंदरिया, काहै न आनि सुवावै।
तू काहै नहिं बेगिहिं आवै, तोकौ कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत है, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।
जो सुख सूर अमर[1]-मुनि दुर्लभ, सो नँद-भामिनि पावै।।५१।।

राग बिहागरौ

नैकु गोपालहिं मोकौं दै री।
देखौं बदन[2] कमल नीकैं करि, ता पाछै तू कनियाँ[3] लै री।
अति कोमल कर चरन-सरोरुह[4], अधर-दसन[5]-नासा सोहै री।
लटकन सीस, कंठ मनि भ्राजत, मनमथ कोटि वारनैं गै री।
वासर-निसा[6] विचारति हो सखि, यह सुख कबहुँ न पायौ मैं री।
निगमनि-धन, सनकादिक-सरवस, बड़े भाग्य पायौ है तैं री।
जाकौ रूप जगत के लोचन, कोटि चंद्र-रवि लाजत भै री।
सूरदास बलि जाइ जसोदा, गोपिनि-प्रान, पूतना-बैरी।।५२।।

राग बिलावल

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नंद घरनि गावति, हलरावति, पलना पर हरि खेलत।
जे चरनारविंद श्री[7]-भूषन, उर तैं नैकु न टारति।
देखौं धौं का रस चरननि मैं, मुख मेलत करि आरति।

---

(१) देवता (२) मुख (३) गोद (४) कमल (५) दाँत (६) दिन-रात (७) लक्ष्मी।

जा चरनारबिंद के रस कौ सुर-मुनि करत विवाद ।
सो रस है मोहूँ कौ दुरलभ, तातैं लेत सवाद ।
उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ[1] पीठ अकुलाइ ।
सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ ।
बढ्यौ वृच्छ बट, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात ।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ-तहाँ आघात ।
करुना करी, छाँड़ि पग दीन्हौ, जानि सुरनि मन संस[2] ।
सूरदास प्रभु असुर-निकंदन, दुष्टनि के उर गंस ।।५३।।

राग बिलावल

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै ।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख वचन झरै ।
कब नंदहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै ।।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसौं झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने कर सौं मुखहिं भरै ।
कब हँसि बात कहैगौ मोसौं, जा छबि तैं दुख दूर हरै ।
स्याम अकेले आँगन छाँड़े, आपु गई कछु काज घरै ।
इहिं अंतर अँधवाह[3] उठ्यौ इक, गरजत गगन सहित घहरै ।
सूरदास ब्रज-लोग सुनत धुनि, जो जहँ-तहँ सब अतिहिं डरै ।।५४।।

राग धनाश्री

हरि किलकत जसुदा की कनियाँ[4] ।
निरखि-निरखि मुख कहति लाल सौं, मो निधनी के धनियाँ ।

---

(१) कछुआ (२) शंका (३) बवंडर (४) गोदी ।

अति कोमल तन चितै स्याम कौ, बार-बार पछितात।
कैसैं बच्यौ जाउँ बलि तेरी, तृनावर्त्त कै घात।
ना जानौं धौं कौन पुन्य तें, को करि लेत सहाइ।
वैसौ काम पूतना कीन्हौ, इहिं ऐसौ कियौ आइ।
माता दुखित जानि हरि बिहँसे, नान्ही दँतुलि दिखाइ।
सूरदास प्रभु माता चित तै दुख डार्यौ बिसराइ ॥५५॥

राग बिलावल

सोभित कर नवनीत[1] लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु[2]-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल, लोल[3] लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप[4]-गन मादक मधुहिं पिए।
कठुला-कंठ, बज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए ॥५६॥

राग धनाश्री

कहाँ लौं बरनौं सुंदरताई ?
खेलत कुँवर कनक-आँगन में नैन निरखि छवि पाई।
कुलही लसति सिर स्यामसुंदरकै, बहु विधि सुरंग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा[5] धनुष चढ़ाई।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर[6] मन मोहन-मुख बगराई[7]।
मानौ प्रकट कंज पर मंजुल अलि-अवली[8] फिरि आई।
नील सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई।

---

(१) मक्खन (२) धूल (३) चंचल (४) भौंरा (५) इन्द्र (६) बाल (७) बिखरे हुए (८) भौंरों की कतार।

सनि, गुरु-असुर[1] देवगुरु[2], मिलिमनु भौम[3] सहित समुदाई।
दूत-दंत-दुति कहि न जाति कछु अद्भुत उपमा पाई।
किलकत-हँसत दुरति प्रगटति मनु घन मैं विज्जु छटाई।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, सूरदास वलि जाई ॥५७॥

राग नटनारायन

हरि जू की बाल-छवि कहौ बरनि।
सकल सुख की सीव, कोटि-मनोज[4]-सोभा-हरनि।
भुज भुजंग[5] सरोज नैननि, बदन विधु[6] जित लरनि।
रहे विवरनि[7], सलिल[8], नभ[9], उपमा अपर[10] दुरि डरनि।
मंजु मेचक[11] मृदुल तनु, अनुहरत भूषण भरनि।
मनहुँ सुभग सिंगार-सिसु-तरु, फऱ्यौ अद्भुत फरनि।
चलत पद-प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज-संपुट-सुभग-छवि भरि लेति उर जनु धरनि।
पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नँद-घरनि।
सूर प्रभु की उर बसी किलकनि ललति लरखरनि ॥५८॥

राग धनाश्री

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कै आँगन, बिंब पकरिबे धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाहँ कौ, कर सौ पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।

---

(१) शुक्र (२) वृहस्पति (३) मगल (४) कामदेव (५) सर्प (६) चंद्रमा (७) बिल में (८) पानी (९) आकाश (१०) दूसरी (११) बाल।

कनक भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति।
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अंचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौ दूध पियावति ॥५६॥

राग बिलावल

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरवराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया।
कबहुँक सुंदर वदन विलोकति, उर आनँद भरि लेति बलैया।
कबहुँक कुल-देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया।
कबहुँक बल-कौं टेरि बुलावति, इहिं आँगन खेलौ दोउ भैया।
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप विलसत नँदरैया ॥६०॥

राग धनाश्री

कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी।
जो मन मैं अभिलाष करति ही, सो देखति नंद-घरनी[1]।
रुनुक-झुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिही मन-हरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरतहीं, सो छबि जाइ न बरनी।
ब्रज-जुवती सब देखि थकित भईं, सुन्दरता की सरनी।
चिरजीवहु जसुदा कौ नंदन, सूरदास कौ तरनी[2] ॥६१॥

राग बिलावल

जब दधि-रिपु[3] हरि हाथ लियौ।
खगपति-अरि[4] डर, असुरनि संका, वासर-पति आनंद कियौ।
विदुखि सिंधु सकुचत, सिव सोचत, गरलादिक किम जाय पियौ ?

---

(१) यशोदा (२) नाव (३) रई (४) वासुकिनाग।

अति अनुराग संग कमला-तन, प्रफुलित अँग न समात हियौ।
एकनि दुख, एकनि सुख उपजत, ऐसौ कौन बिनोद कियौ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे गहन ही, एक-एक तैं होत बियौ ॥६२॥

राग देवगंधार

कहन लागे मोहन मैया-मैया।
नंद महर सौं वावा-वाबा, अरु हलधर[१] सौं भैया।
ऊँचे चढ़ि-चढ़ि कहत जसोदा, लै-लै नाम कन्हैया।
दूरि खेलन जनि जाहु लला रे, मारैगी काहु की गैया।
गोपी ग्वाल करत कौतूहल, घर-घर बजति वधैया।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरसकौ, चरननि की बलि जैया ॥६३॥

राग विलावल

सखि री, नंद-नंदन देखु।
धूरि-धूसर जटा जुटली, हरि[२] किए हर[३]-भेषु।
नील पाट पिरोइ मनि-गन, फनिग[४] धोखैं जाइ।
खुनखुना कर, हँसत हरि, हर नचत डमरु वजाइ।
जलज[५]-माल गुपाल पहिरे, कहा कहौं वनाइ।
मुण्ड-माल मनौ हर-गर[६], ऐसी सोभा पाइ।
स्वाति-सुत[७] माला विराजत स्याम तन इहिं भाइ।
मनौ गङ्गा गौरि[८]-डर हर लई कण्ठ लगाइ।
केहरी-नख निरखि हिरदै, रही नारि विचारि।
वाल-ससि मनु भाल तैं लै, उर धरयौ त्रिपुरारि।

---

(१) वल्देवजी (२) विष्णु (३) शिव (४) साँप (५) कमल।
(६) शिव के गले मे (७) मोती (८) पार्वती।

देखि अङ्ग अनङ्ग झिझक्यौ, नन्द-सुत हर जान।
सूर के हिरदै बसौ नित, स्याम-सिव कौ ध्यान ॥६४॥

राग विलावल

देखो भाई दधि-सुत[1] में दधि जात।
एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु[2] मैं रिपु जु समात।
दधि पर कीर[3], कीर पर पंकज, पंकज के द्वै पात।
यह सोभा देखत पसु-पालक, फूले अङ्ग न समात।
वारम्वार विलोकि सोचि चित, नन्द महर मुसुक्यात।
यहै ध्यान मन आनि स्याम कौ, सूरदास वलि जाति ॥६५॥

राग रामकली

मैया, कवहि बढ़ैगी चोटी ?
किती वार[4] मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ[5] है छोटी।
तू जो कहति वल की बेनी ज्यौ, ह्वै है लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत-न्हवावत जैहै नागिन सी भुई लोटी।
काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरज चिरजीवी दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी[6] ॥६६॥

राग केदारौ

मैया, मैं तौ चन्द-खिलौना लैहौ।
जैहौ लोटि धरनि पर अवही, तेरी गोद न ऐहौ।
सुरभी[7] कौ पय[8] पान करिहौ, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौ पूत नन्द वावा कौ, तेरौ सुत न कहैहौ।
आगै आउ, वात सुनि मेरी, वलदेवहि न जनैहौ।

---

(१) चन्द्रमा अर्थात् मुख (२) शत्रु (३) तोता अर्थात् नाक
(४) देरी (५) अभी भी (६) जोडी (७) गाय (८) दूध।

हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।
तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमङ्गल गैहौं ॥६७॥

राग बिलावल

जागिए, ब्रजराज कुँवर, कँवल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द संकुचित भए, भृङ्ग लता भूले।
तमचुर[1] खग-रोर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि मैं, बछरा हित धाई।
[2]-मलीन रवि प्रकास गावत नर-नारी।
सूर-स्याम प्रात उठौ, अम्बुज[3]-कर-धारी ॥६८॥

राग गौरी

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ ?
कहा करौं इहि रिस के मारें खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोही कौ मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥६९॥

राग बिहागरौ

खेलन दूरि जात कत कान्हा ?
आजु सुन्यौ मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा।

---

(१) मुर्गा (२) चन्द्रमा (३) कमल।

इक लरिका अवहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सवनि के, लरिका जानत जाहि।
चलौ न, वेगि सबारै जैये, भाजि आपने धाम।
सूर स्याम यह वात सुनतही बौलि लिए बलराम ॥७०॥

राग सारङ्ग

जेंवत कान्ह नन्द इकठौरे।
कछुक खात लपटात दोऊ कर वालकेलि अति भोरे।
वरा कौर मेलत मुख भीतर, मिरिच दसन[1] टकटौरे।
तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत वाहर दौरे।
फूँकति वहन रोहिनी ठाढ़ी, लिए लगाइ अङ्कोरे।
सूर स्याम कौ लघुर कौर दै कीन्हे तात निहोरे ॥७१॥

राग सारङ्ग

जेवत स्याम नन्द की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छवि निरखति नंद-रनियाँ।
वरी, वरा बेसन, वहु भाँतिनि, व्यंजन विविध, अगनियाँ।
डारत, खात, लेत अपनै कर, रुचि मानत दधि दोनियाँ।
मिस्री, दधि, माखन मिस्रित करि, मुख नावत छवि धनियाँ।
आपुन खात, नन्द-मुख नावत, सो छवि कहत न वनियाँ।
जो रस नन्द-जसोदा विलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नन्द अचमन लीन्हौ, माँगत सूर जुठनिया ॥७२॥

राग गौरी

स्याम कहा चाहत से डोलत ?
पूछे तें तुम वदन दुरावत, सूधे बोल न वोलत।

---

(१) दाँत।

पाए आइ अकेले घर मैं, दधि-भाजन मैं हाथ।
अब तुम काकौ नाउँ लेउगे, नाहि न कोऊ साथ।
मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, ता धोखै मैं आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चीटी, काढ़न कौ कर नायौ।
सुनि मृदु बचन, निरखि मुख-सोभा, ग्वालिन मन मुसकानी।
सूर स्याम तुम हौ अति नागर बात तिहारी जानी ।।७३।।

राग धनाश्री

चोरी करत कान्ह धरि पाये।
निसि-बासर मोहिं बहुत सतायौ अब हरि हाथहिं आये।
माखन-दधि मेरौ सब खायौ, बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तौ घात परे हौ लालन, तुम्हैं भलैं मैं चीन्ही।
दोउ भुज पकरि, कह्यौ कहँ जैहौ, माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौ मैं नैंकु न खायौ, सखा गए सब खाइ।
मुख तन चितै, बिहँसि हरि दीन्हौ, रिस[1] तब गई बुझाइ।
लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी, सूरदास बलि जाइ ।।७४।।

राग रामकली

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सबै सखा मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही छींके पर भाजन[2], ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौ जु कहत नान्हे कर अपनैं, मैं कैसे करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।

---

(१) क्रोध (२) बर्तन।

बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव विरंचि नहिं पायौ ॥७४॥

राग रामकली

देखौ माई या बालक की बात ।
बन-उपवन, सरिता-सर मोहे, देखत स्यामल गात ।
मारग चलत अनीति करत है, हठ करि माखन खात ।
पीताम्बर वह सिर तै ओढ़त, अञ्चल दै मुसुकात ।
तेरी सौं कहा कहौ जसोदा, उरहन देति लजात ।
जब हरि आवत तेरे आगैं सकुचि तनक ह्वै जात ।
कौन-कौन गुन कहौ स्याम के, नैकु न काहुँ डरात ।
सूर स्याम मुख निरखि जसोदा, कहति कहा यह बात ॥७६॥

राग केदारौ

मुख-छबि कहा कहौ बनाइ ।
निरखि निसि-पति[1] वदन[2]-सोभा, गयौ गगन[3] दुराइ ।
अमृत अलि[4] मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ ।
निकसि सर तै मीन[5] मानौ, लरत कीर[6] छुराइ ।
कनक-कुण्डल-स्रवन बिभ्रम कुमुद मिसि सकुचाइ ।
सूर हरि की निरखि शोभा कोटि काम लजाइ ॥७७॥

राग गौरी

निरखि श्याम हलधर मुसुकाने ।
को बाँधै, को छोरै इनकौ, यह महिमा येई पै जाने ।
उतपति-प्रलय करत है येई, सेष सहस मुख सुजस बखाने ।

---

(१) चन्द्रमा (२) मुख (३) आकाश (४) भौंरा (५) मछली
(६) तोता ।

जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मनमाने।
असुर सँहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने।
सूरदास प्रभु भाव-भक्ति के, अति हित जसुमति हाथ
बिकाने ॥७८॥

राग गौरी

बन तैं आवत धेनु चराए।
सन्ध्या समय साँवरे मुख पर, गो-पद-रज लपटाए।
बरह[1]-मुकट कें निकट लसनि लट, मधुप मनौ रुचि पाए।
बिलसत सुधा जलज[2]-आनन पर उड़त न जात उड़ाए।
बिधि-बाहन[3]-भच्छन की माला, राजत उर पहिराए।
मनहुँ नील घन पर बग[4] पंगति, सोभित पंख फुलाए।
एक बरन बपु[5] नहिं बड छोटे, ग्वाल बने इक धाए।
सूरदास बलि लीला प्रभु की, जीवत जन जस गाए ॥७९॥

राग धनाश्री

वृन्दावन मोकौं अति भावत।
सुनहु सखा तुम सुबल, श्रीदामा, ब्रज तें बन गौ-चारन आवत।
कामधेनु सुरतरु[6] सुख जितने, रमा[7] सहित बैकुण्ठ भुलावत।
इहिं वृन्दाबन, इहिं जमुना-तट, ये सुरभी[8] अति सुखद चरावत।
पुनि-पुनि कहत स्याम श्रीमुख सौं, तुम मेरें मन अतिहिं सुहावत।
सूरदास सुनि ग्वाल चक्रत भए, यह लीला हरि प्रगट दिखावत।
॥८०॥

---

(१) मोर (२) कमल (३) मोती (४) बगुला (५) शरीर (६) कल्पवृक्ष (७) लक्ष्मी (८) गौ।

राग गौरी

देखि सखी बन तैं जु बने ब्रज आवत है नँद-नन्दन।
सिखी[1] सिखंड सीस, मुख मुरली, वन्यौ तिलक, उर चंदन।
कुटिल अलक मुख, चंचल लोचन, निरखत अति आनंदन।
कमल मध्य मनु द्वै खग खंजन बँधे आइ उड़ि फंदन।
अरुन अधर-छवि दसन बिराजत, जब गावत कल मंदन।
मुक्ता मनौ नील-मनि-मय-पुट धरे भुरकि बर वन्दन।
गोप वेष गोकुल गो चारत है हरि असुर-निकन्दन।
सूरदास प्रभु सुजस वखानत नेति नेति श्रुति छंदन ॥८१॥

राग कान्हरौ

आजु वने वन तैं ब्रज आवत।
नाना रङ्ग सुमन की माला, नन्द-नँदन-उर पर छबि पावत।
सङ्ग गोप गोधन-गन लीन्हे, नाना गति कौतुक उपजावत।
कोउ गावत, कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत कोउ करताल वजावत।
राँभति गाइ वच्छ हित सुधि करि, प्रेम उमँगि थन दूध चुवावत।
जसुमति वोलि उठी हरषित ह्वै, कान्हा धेनु चराए आवत।
इतनी कहत आइ गए मोहन, जननी दौरि हिए लै लावत।
सूर स्याम के कृत्य, जसोमति, ग्वाल वाल कहि प्रगट सुनावत ॥८२॥

राग गौरी

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइँ।

---

(१) मोर।

जो न पत्याहि पूछि वलदाउहिं, अपनी सौह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि, गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौ, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरौ अति वालक, मारत ताहि रिंगाइ ॥८३॥

३. रूप-मुरली और लीला माधुरी

राग केदारा

मुरली-धुनि करी वलवीर।
सरद निसि का इंदु पूरन[1], देखि जमुना-तीर।
सुनत सो धुनि भई व्याकुल, सकल घोप-कुमारि[2]।
अंग अभरन[3] उलटि साजे, रही कछु न सम्हारि।
गई सोरह सहस हरि पै, छाँड़ि सुत-पति-नेहं।
एक राखी रोकि कै पति, सो गई तजि देह।
दियौ तिहिं निर्वानि पद हरि, चितै लोचन-कोर।
सूर भजि गोविंद, यौं जग-मोह-बंधन-तोर ॥८४॥

राग धनाश्री

रास-मण्डल-मध्य स्याम राधा।
मनौ घन बीच दामिनी[4] कौधति सुभग[5], एक है रूप, द्वै नाहिं बाधा।
नायिका अष्ट अष्टहु दिसा सोहहीं, बनी चहुँ पास सब गोप-कन्या।
मिले सबसँग नहिं लखत कोउ परस्पर, बने षट-दससहसकृष्नसन्या।
सजे शृङ्गार नव-सात[6] जगमगि रहे अङ्ग-भूषन, रैनि, बनी तैसी।
सूर-प्रभु नवल गिरिधर, नवल राधिका, नवल व्रज-नारि-मंडली।
जैसी ॥८५॥

---

(१) पूर्णिमा का चन्द्रमा (२) ग्वालिने (३) गहने (४) बिजली
(५) सुन्दर (६) सोलह।

राग विहागरौ

नृत्यत स्याम नाना रङ्ग ।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि धरे नटवर अङ्ग ।
चलन गति कटि[1] कुनित किंकिन, घुँघुरु झनकार ।
मनौ हंस रसाल-बानी, अरस-परस विहार ।
लसति कर पहुँची उपाजै, मुद्रिका अति जोति ।
भाव सौं भुज फिरत जबहीं, तबहिं सोभा होति ।
कबहुँ नृत्यत नारि-गति पर, कबहुँ नृत्यत आपु ।
सूर के प्रभु रसिक के मनि, रच्यौ रास प्रतापु ।।८६।।

राग कल्यान

जब हरि मुरली-नाद प्रकास्यौ ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हे, पाहन[2] जलज बिकास्यौ ।
स्वर्ग-पाताल दसौ दिसि पूरन, ध्वनि आच्छादित कीन्हौ ।
निसि हरि कल्प समान बढ़ाई, गोपिन कौं सुख दीन्हौ ।
मैमत[3] भए जीव जल-थल के, तनु की सुधि न सम्हार ।
सूर स्याम मुख वेनु मधुर सुनि, उलटे सब व्यवहार ।।८७।।

राग सारंग

तुम कहुँ देखे स्याम विसासी ।
तनक बजाइ बाँस की मुरली, लै गए प्रान निकासी ।।
कबहुँक आगे, कबहुँक पाछे, पग-पग भरति उसासी ।
सूर स्याम-दरसन के कारन, निकसीं चंद-कला सी ।।८८।।

---

(१) कमर (२) पत्थर (३) मस्त ।

राग बिहागरी

रुदन करति वृषभानु-कुमारी ।
बार-बार सखियनि उर लावनि, कहाँ गए गिरिधारी ।।
कबहुँ गिरति धरन पर ब्याकुल, देखि दसा ब्रजनारी ।।
भरि अँकबारि धरति, मुख पोंछति, देति नैन जल ढारी ।।
त्रिया पुरुष सौ भाव करति है, जाने निठुर मुरारी ।
सूर स्याम कुल-धरम आपनौ, लए रहत बनवारी ।।८९।।

राग रामकली

नृत्यत स्याम स्याम हेत ।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत ।
कबहुँ चलत सुधंग गति सौ, कबहुं उघटत बैन ।
लोल कुंडल गंड-मंडल, चपल नैननि सैन ।
स्याम की छबि देखि नागरि, रही इकटक जोहि ।
सूर-प्रभु उर लाइ लीन्ही, प्रेम-गुन करि पोहि ।।९०।।

राग गौरी

जमुना-जल क्रीड़त नँद-नंदन ।
गोपी-वृन्द मनोहर चहुँ दिसि, मध्य अरिष्ट निकंदन ।
सोभित सलिल परस्पर छिरकत, सिथिल होत भुज-बंदन ।
ज्यौ अहिपति केंचुरि कौ, लघु लघु छोरत है अंग-बंदन ।
कच-भर कुटिल सुदेस अंबुकनि, चुंवत अग्र गति मंदन ।
मानहु भरि गंडूष कमल तै डारत अलि आनंदन ।
भुज भरि अंक अगाध चलत लै, ज्यौं लुब्धक खग फंदन ।
सूरदास स्वामी श्रीपति के गुन गावत श्रुति छंदन ।।९१।।

राग धनाश्री

मैं कैसै रस रासहि गाऊं ।
श्री राधिका स्याम की प्यारी, कृपा बास ब्रज पाऊँ ।

आन देव सपनेहुँ न जानौ, दंपति कौ सिर नाऊँ।
नव निकुंज वन-धाम-निकट इक, आनँद कुटी रचाऊँ।
सूर कहा बिनती करि विनवै, जनम-जनम यह ध्याऊँ। ॥९२॥

राग रामकली

(श्री) जमुना पतित पावन कर्‌यौ।
प्रथमहीं जब दियौ दरसन, सकल पापनि हर्‌यौ।
जल तरंगनि परसि कै, पय पान सौं मुख भर्‌यौ।
नाम सुमिरत गई दुरमति, कृष्न रस बिस्तर्‌यौ।
गोप-कन्या कियौ मज्जन[1], लाल गिरिधर बर्‌यौ।
सूर श्री गोपाल सुमिरत, सकल कारज सर्‌यौ॥९३॥

राग कान्हरौ

स्याम-वदन देखि हरि लाज्यौ।
यहै अपूर्व जानि जिय लघुता, खीन इंदु याही दुख भाज्यौ।
क्रीड़न कुंज-अटा रजनी-मुख प्रेम-मुदित नवसत[2] अङ्ग साज्यौ।
विधु लच्छन जानत सुर नर सव, मृगमद[3]-तिलक देखिसौ लाज्यौ।
विथकित रथ चकित अवलोकत, सुन्दरि-सँग हरि-राज बिराज्यौ।
विस्मय मिटी ससि पेखि समीपहि, कहि अव सूर उभय हरिगाज्यौ।
॥९४॥

राग बिलावल

आजु वन राजत जुगल किसोर।
दसन-वसन खंडित मुख मंडित, गंड तिलक कछु थोर।
डगमगात पग धरत सिथिल गति, उठे काम-रस-भोर।
रति-पति सारँग अरुन महाछवि, उमँग पलक लगे भोर।
स्रुति अवतंस विराजत हरि-सुत, सिद्ध-दरस-सुत ओर।
सूरदास-प्रभु रस-बस कीन्ही, परी महा रन जोर॥९५॥

---

(१) स्नान (२) सोलह (३) कस्तूरी।

राग बिलावल

देखि सखी ब्रज तैं बन जात ।
रोहिनि सुत[1], जसुमति-सुतकी छवि, गौर, स्याम हरि-हलधर-गात ।
नीलाम्वर पीतांवर ओढे, यह सोभा कछु कही न जात ।
जुगल जलज[2] जुग तड़ित[3] मनहुँ मिलि, अरस-परस जोरत हैं नात ।
सीस मुकुट मकराकृत कुंडल झलकत विविध कपोलनि भाँति ।
मनहु जलद[4]-जुग-पास जुगल रवि, तापर इन्द्र धनुप की काँति ।
कटि कछनी, कर लकुट मनोहर, गो-चारन चले मन अनुमानि ।
ग्वाल सखा बिच श्री नँद-नंदन, बोलत वचन मधुर मुसुकानि ।
चितै रहीं ब्रज की जुवती सब, आपुस ही मैं करत विचार ।
गोधन-वृन्द लिये सूरज-प्रभु, वृन्दावन गए करत विहार ॥९६॥

राग सारङ्ग

अधर-रस मुरली लूटन लागी ।
जा रस कौं पट रिपु तप कीन्हो, रस पियति सभागी ।
कहाँ रही, कहँ ते इहँ आई, कौनै याहि बुलाई ?
चक्रित भई कहति ब्रजबासिनि, यह तो भली न आई ।
सावधान क्यौं होति नही तुम, उपजी बुरी बलाइ ।
सूरदास-प्रभु हम पर ताकी, कीन्हो सौति बजाइ ।

राग बिहागरो

मुरली हम कहँ सौति भई ।
नैकु न होति अधर ते न्यारी, जैसें तृपा डई ।
इहँ अँचवति, उहँ डारति लै-लै जल थल बननि वई ।
जा रस कौ ब्रत करि तनु गारथौ, कीन्ही रई-रई ।

---

(१) बलदेव (२) कमल (३) बिजली (४) बादल ।

पुनि-पुनि लेति, सकुच नहिं मानति, कैसी भई दई।
कहा धरै वह वाँस साँस की, आस निरास गई।
ऐसी कहूँ गई नहिं देखी, जैसी भई नई।
सूर वचन याके टोना से, सुनत मनोज जई ॥६८॥

राग मलार

वाँसुरी विधि हूँ तै परवीन।
कहियै काहि आहि को ऐसौ, कियौ जगत आधीन।
चारि बदन उपदेस बिधाता, थापी थिर-चर नीति।
आठ वदन गरजति गरबीली, क्यौ चलिहै यह रीति।
विपुल विभूति लही चतुरानन[1], एक कमल कर थान।
हरि-कर कमल जुगल परि वैठी, बाढ्यौ यह अभिमान।
एक बेर श्रीपति के सिखऐं, उन आयौ गुरु-ज्ञान।
याकें तौ नँदलाल लाड़िलौ, लग्यौ रहत नित कान।
एक मराल,[2] पीठि आरोहन, विधि भयौ प्रबल-प्रसंस।
इन तौ सकल बिमान किये, गोपी-जन-मानस-हंस।
श्री बैकुण्ठनाथ-पुरबासी चाहत जा पद-रैनु।
ताकौ मुख सुखमय सिंहासन, कर बैठी यह ऐनु।
अधर-सुधा पी कुल-व्रत टारयौ, नहीं सिखा नहिं ताग।
तदपि सूर या नंद-सुवन कौ, याही सौ अनुराग ॥६९॥

राग नट

सुनहु री मुरली की उतपत्ति।
वन में रहति वाँस कुल याकौ, यह तो याकी जत्ति।

---

(१) ब्रह्मा (२) हंस।

जलधर[1] पिता, धरनि है माता, अवगुन कहौ उघारि।
बनहूँ तै याकौ घर न्यारौ, निपटहिं जहाँ उजारि।
इक तैं एक गुननि है पूरे, मातु पिता और आपु।
नहिं जानियै कौन फल प्रगट्यौ, अतिहीं कृपा प्रताप।
बिसवासिन पर काज न जानै, याके कुल कौ धर्म।
सुनहु सूर मेघनि की करनी अरु धरनी के कर्म ॥१००॥

राग कल्यान

सजनी स्याम सदाई ऐसे।
एक अङ्ग की प्रीति हमारी, बै जैसे के तैसे।
ज्यौ चकोर चन्दा कौ चाहै, चंदा नैकु न मानै।
जल कै तीर मीन तन त्यागै, नीर निठुर नहिं जानै।
ज्यौं पतंग उड़ि परै ज्योति तकि, वाके नैकु न भाऐ।
चातक रटि-रटि जनम गँवावै, जल वै डारत भाऐं।
उनहूं तें निर्दयी बड़े वै, तैसियै मुरली पाई।
सूर स्याम जैसे तैसी वह, भली बनी अब माई ॥१०१॥

राग गौरी

अधर-रस मुरली लूट करावति।
आपुन बार-बार लै अँचवति, जहाँ-तहाँ ढरकावति।
आजु महा चढ़ि बाजी बाकी, जोइ जोइ करै बिराजै।
करि सिंहासन बैठि, अधर-सिर छत्र धरे यह गाजै।
गनति नहीं अपनै बल काहुहिं, स्यामहि ढीठि कराई।
सुनहु सूर बन की बनबासिनि, ब्रज मैं भई रजाई ॥१०२॥

---

(१) बादल।

राग गौरी

नटवर-वेष धरे व्रज आवत ।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, कुटिल अलक मुख पर छबि पावत ।
भृकुटी बिकट नैन अति चंचल इहि छबि पर उपमा इक आवत ।
धनुष देखि खंजनबिबि[1] डरपत, उड़ि न सकत उड़िबै अकुलावत ।
अधर अनूप मुरलि-सुर पूरत, गौरी राग अलापि बजावत ।
सुरभी-वृन्द[2] गोप-बालक-संग गावत अति आनंद बढ़ावत ।
कनक-मेखला कटि पीतांबर, निर्तत मंद-मंद सुर गावत ।
सूर स्याम-प्रति-अंग-माधुरी, निरखत व्रज-जन कैं मन भावत ।
॥१०३॥

राग हमीर

घट भरि दियौ स्याम उठाइ ।
नैकु तन की सुधि न ताकौ, चली व्रज-समुदाइ ।
स्याम सुंदर नैन-भीतर, रहे आनि समाइ ।
जहाँ-जहँ भरि दृष्टि देखै, तहाँ-तहाँ कन्हाइ ।
उतहिं तैं इक सखी आई, कहति कहा भुलाइ ।
सूर अबही हँसत आई, चली कहा गवाँइ ॥१०४॥

राग नट

जनि बोलै पपीहा, हों डाढ़ी ।
पैले पार कान्ह बंसुरी बजावे, उले पार बिरहिनि ठाढ़ी ।
कहा करौ, कैसे आवौ सखि, नैन-नीर-जमुना बाढी ।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौ, मैन प्रीत अतिही गाढ़ी ।
॥१०५॥

---

(१) दो (२) गाय-समूह ।

राग बिलावल

यह कमरी कमरी करि जानति ।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में, सो तितनौ अनुमानति ।
या कमरी के एक रोम पर, वारौ चीर पटंबर ।
सो कमरी तुम निंदति गोपी, जो तिहुँ लोक अडंबर ।
कमरी कै बल असुर सँहारे, कमरिहिं तै सब भोग ।
जाति-पाँति कमरी सब मेरी, सूर सबै यह जोग ॥१०६॥

राग आसावरी

को माता को पिता हमारै ।
कब जनमत हमकौ तुम देख्यौ, हँसियत बचन तुम्हारैं ।
कब माखन चोरी करि खायो, कब बाँधे महतारी ।
दुहन कौन कौ गैया चारत, बात कहीं यह भारी ।
तुम जानत मोहिं नंद-ढुटौना, नंद कहाँ तै आए ।
मैं पूरन अबिगत, अबिनासी, माया सबनि भुलाए ।
यह सुनि ग्वालि सबै मुमुक्यानी, ऐसे गुन हो जानत ।
सूर स्याम जो निदर्यौ सबही, मात-पिता नहिं मानत ।
॥१०७॥

राग सोरठ

यह सुनि चकित भईं ब्रज-बाला ।
तरुनी सब आपस में बूझति कहा कहत गोपाला ।
कहाँ तुरग[1], कहाँ गज[2] केहरि[3], हंस सरोवर सुनियै ।
कंचन-कलस गढ़ाए कब हम, देखौ धौं यह गुनियै ।

---

(१) घोड़ा (२) हाथी (३) सिंह ।

कोकिल, कोर, कपोत बननि मे, मृग खंजन इक संग ।
तिनकौ दान लेत है हमसौ, देखहु इनकौ रंग ।
चंदन, चँवर, सुगंध बतावत, कहाँ हमारे पास ।
सूर स्याम जो ऐसे दानी, देखि लेहु चहुँ पास ॥१०८॥

राग बिलावल

प्रगट करौं अब तुमहिं बताऊँ ।
चिकुर[1] चमर, घूँघट हय[2] बर-बर भ्रुव-सारँग[3] दिखराऊँ ।
बान कटच्छ, नैन खंजन, मृग, नासा सुक उपमाऊँ ।
तरिवन चक्र, अधर विद्रुम-छबि, दसन वज्र-कन ठाऊँ ।
ग्रीव कपोत, कोकिला बानी, कुच घट कनक सुभाऊँ ।
जोबन-मद रस-अमृत भरे है, रूप रंग झलकाऊँ ।
अंग सुगंध बास पाटम्बर, गनि-गनि तुमहिं सुनाऊँ ।
कटि केहरि, गयंद-गति सोभा, हँस सहित इकनाऊँ ।
फेर कियं कैसे निवहति हौ, घरहिं गए कहँ पाऊँ ।
सुनहु सूर यह बनिज तुम्हारे, फिर-फिर तुमहिं मनाऊँ ॥१०९॥

राग जैतश्री

माखन दधि हरि खात ग्वाल-सँग ।
पातनि के दोना सब लै-लै पतुखिनि मुख मेलत रँग ।
मटुकिनि तैं लै-लै परुसति है, हरष भरी व्रज-नारी ।
यह सुख तिहूँ भुवन कहुँ ना नाही, दधि जेवत वनवारी ।
गोपी धन्य कहति आपुन कौं, धन्य दूध-दधि माखन ।
जाकौ कान्ह लेत मुख मेलत, सवनि कियौ संभाषन ।

---

(१) बाल (२) घोड़ा (३) धनुष ।

जो हम साध करति अपनै मन, सो सुख पायौ नीकैं।
सूर स्याम पर तन-मन वारति, आनँद जी सबही कैं ॥११०॥

राग कान्हरौ

राधा सौं माखन हरि माँगत।
औरनि की मटुकी कौ खायौ, तुम्हरौ कै सौ लागत।
लै आई बृषभानु-सुता, हँसि सद लवनी[1] है मेरौ।
लै दीन्हौ अपनै कर हरि-मुख, खात अल्प हँसि हेरौ।
सबहिनि तैं मोठौ दधि है यह, मधुरैं कह्यौ सुनाइ।
सूरदास-प्रभु सुख उपजायौ, ब्रज ललना मनभाइ ॥१११॥

राग रामकली

कंस-हेतु हरी जन्म लियौ।
पापहि पाप धरा भई भारी, तब सुरनि[2] पुकार कियौ।
सेस-सैन जहँ रमा संग मिलि, तहँ अकास भई बानी।
असुर मारि भुव-भार उतारौ, गोकुल प्रगटौ आनी।
गर्भ देवकी कै तनु धरिहौ, जसुमति कौ पय पीहौं।
पूरब तप बहु कियौ कष्ट करि, इनकौ बहुत रिनी हौं।
यह बानी कहि सूर सुरनि औ, अब कृष्ना अवतार।
कह्यौ सबनि ब्रज जन्म लेहु सँग, मेरैं करहु बिहार ॥११२॥

राग सूहौ

यह महिमा येई पै जानै।
जोग-जज्ञ-तप ध्यान न आवत, सो दधि-दान लेत सुख मानै।
खात परस्पर ग्वालनि मिलि कै, मीठौ कहि कहि आपु बखाने।

---

(१) माखन (२) देवताओं ने।

बिस्वम्भर जगदीस कहावत ते दधि दोना माँझ अघाने।
आपुहिं करता, आपुहिं हरता, आपु बनावत, आपुहिं भानें।
ऐसे सूरदास के स्वामी, ते गोपिनि कै हाथ बिकाने ॥११३॥

राग टोड़ी

या घर में कोउ है कै नाहीं,।
बार-बार बूझति वृच्छनि कौ, गोरस लेहु कि जाही।
आपुहिं कहति लेति नाहीं दधि, और द्रुमनि तर जाति।
मिलति परसपर बिबस देखि तिहिं, कहति कहा इतराति।
ताकौ कहति, आपु सुधि नाही, सो पुनि जानति नाही।
सूर स्याम-रस भरी गोपिका, बन मैं यौ बितताही ॥११४॥

राग धनाश्री

पलक-ओट नहिं होत कन्हाई।
घर गुरुजन बहुतै बिधि त्रासत, लाज करावत, लाज न आई।
नैन जहाँ दरसत हरि अँटके, स्रवन थके सुनि बचन सुहाई।
रसना और नही कछु भाषति, स्याम-स्याम रट इहै लगाई।
चित चंचल संगहिं सँग डोलत लोक-लाज-मरजाद मिटाई।
मन हरि लियौ सूर-प्रभु तबहीं, तन बपुरे को कहा बसाई।
॥११५॥

राग कान्हरौ

दधि-मटुकी सिर लिये ग्वालिनी कान्ह कान्ह करि डोलै री।
बिबस भई तनु-सुधि न सम्हारै आपु बिकी बिनु मोलै री।
जोइ-जोइ पूछै यामैं है कह लेहु लेहु कहि बोलै री।
सूरदास-प्रभु-रस-बस ग्वालिनि बिरह भरी फिरै टोलै री।
॥११६॥

राग धनाश्री

हरि देखें बिनु कल न परै।
जा दिन तें वे दृष्टि परे हैं, क्यों हूँ चित उनतें न टरै।
नव कुमार मनमोहन, ललना-प्रान-जिवनधन क्यौं बिसरै।
सूर गुपाल-सनेह न छाँड़ै, देह-सुरति सखि कौन कौन करै।
॥ ११७ ॥

राग रामकली

तब नागरि मन हरप भई।
नेह पुरातन जानि स्याम को, अति आनन्द भई।
प्रकृति पुरुप, नारी मैं वे पति, काहैं भूलि गई।
को माता, को पिता, बंधु को, यह तौ भेंट नई।
जन्म-जन्म, जुग-जुग यह लीला, प्यारी जानि लई।
सूरदास-प्रभु की यह महिमा, यातें बिवस भई ॥ ११८ ॥

राग सोरठ

राधे दधि-सुत क्यौं न दुरावति।
हौं जु कहति वृपभानु, नंदिनी, काहे जीव सतावति।
जल-सुत दुखी, दुखी हैं मधुकर, द्वै पंछी दुख पावत।
सारंग दुखी होत बिनु सारंग, तोहिं दया नहिं आवत।
सारंग-रिपु की नैकु ओट करि, ज्यौं सारंग सुख पावत।
सूरदास सारंग किहि कारन, सारंग-कुलहि लजावत ॥ ११९॥

राग बिहागरो

मेरी सिख स्रवन काहैं न करति।
अजहुँ भोरी भई रैहैं, कहति तोसौं डरति।

ससि निरखि मुख चलत नाहिन, नैन निरखि कुरंग[1]।
कमल, खंजन, मीन, मधुकर, होत है चित-भंग।
देखि नासा कीर[2] लज्जित, अधर दसन निहारि।
बिंब अरु बंधूक विद्रुम दामिनि डर भारि।
उर निरखि चकवाक बिथके, निरखि के बन राज।
चाल देखि मराल भूले, चलत तब गजराज।
अंग-अंग अवलोकि सोभा, मनहिं देखि बिचारि।
सूर मुख पट देति काहैं न, बरष द्वादस भारि ॥ १२० ॥

राग बिलावल

सुनि राधे तोहिं स्याम दिखैहै।
जहाँ तहाँ व्रज-गलिनि फिरत हैं, जब इहिं मारग ऐहै।
जवही हम उनकौ देखेंगी, तवही तोहिं बुलैहैं।
उनहूँ कैं लालसा वहुत यह, तोहिं देखि सुख पैहै।
दरसन तैं धीरज जव रैहै, तव हम तोहिं पत्यैहै।
तुमकौं देखि स्याम सुन्दर घन, मुरली मधुर बजैहै।
तनु त्रिभंग करि अंग-अंग सौं, नाना भाव जनैहै।
सूरदास-प्रभु नवल कान्ह बर, पीतांबर फहरैहै ॥ १२१ ॥

राग बिहागरौ

नटवर-बेष काछे स्याम।
पद-कमल नख-इंदु-सोभा, ध्यान पूरनकाम।
जानु जंघ सुघटनि करभा, नहीं रंभा-तूल[3]।
पीत पट काछनी मानहुँ, जलज-केसर झूल।

---

(१) हिरन (२) तोता (३) केला।

राग सूही बिलावल

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरक़त तै सुभग कलेवर, ऐसे है बनमाली।
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यौ दामिनि बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुवास।
कीधौ तरुन तमाल चढ़ि, जुग फल बिब सुपाके।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके।
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ।
मनौ नीलमनि-पुट मुकुता गन, बंदन भरि बगराइ।
किधौ बज्र-कन, लाल नगनि खँचि, तापर बिद्रुम पाँति।
किधौ सुभग बंधूक-कुसुम-तर, झलकत जल-कन-काँति।
किधौ अरुन अंबुज बिच बैठी, सुन्दरताई जाइ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ ॥१२७॥

राग धनाश्री

ता दिन तै हरि दृष्टि परे री।
ता दिन तै मेरे इन नैननि, दुख सुख सब बिसरे री।
मोहन अंग गुपाल लाल के, प्रेम-पियूष[1] भरे री।
बसे उहाँ मुसुकानि-बाँह लै, रचि रुचि-भवन करे री।
पठवति हौ मन तिनहिं मनावन निसिदिन रहत अरे री।
ज्यौ ज्यौ जतन करति उलटावति त्यौ त्यौ हठत खरे री।
पचिहारी समुझाइ ऊँच-निच पुनि-पुनि पाइ परे री।
सो सुख सूर कहाँ लौं बरनौ इक टक तै न टरे री ॥१२८॥

---

(१) अमृत।

राग गौरी

मन मेरौ हरि साथ गयौ री।
द्वारैं आइ स्याम घन सजनी, हँसि मोतन तिहिं संग लयौ री।
ऐसैं मिल्यौ जाइ मोकौ तजि, मानौ उनही पोषि जयौ री।
सेवा चूक परी जो मोतैं, मन उनकौ धौ कहा कियौ री।
मोकौ देखि रिसात कहत यह, तेरैं जिय कछु गर्व भयौ री।
सूर स्याम-छबि-अंग लुभान्यौ, मन-बच-क्रम मोहिं छाँड़ि दयौ री।
॥१२६॥

राग गूजरी

स्याम करत है मन की चोरी।
कैसै मिलत आनि पहिलै ही, कहि-कहि बतियाँ भोरी।
लोक-लाज की कानि गँवाई, फिर गुड़ी[1] बस डोरी।
ऐसे ढंग स्याम अब सीख्यौ, चोर भयौ चित कौ री।
माखन की चोरी सहि लीन्ही, बात रही वह थोरी।
सूर स्याम भयौ निडर तबहिं तै, गौरस लेत अँजोरी॥१३०॥

राग मलार

भीजत कुञ्जनि में दोउ आवत।
ज्यौं-ज्यौ बूँद परति चूनरि पर, त्यौं-त्यौं हरि उर लावत।
तैसैं मोर कोकिला बोलत, पवन बीजु घन धावत।
लै मुरली कर मंद घोर सुर, राग मलार बजावत।
अधिक झकोर जबै मेघनि की, द्रुम तिरछनि बिरमावत।
वै हँसि ओट करत पीतांबर, ये चूनरी उढ़ावत।

---

(१) पतंग।

कनक छुद्रावली[1] पंगति, नाभि कटि के भीर।
मनहुँ हंस-रसाल-पंगति, रहे है हृद-तीर।
झलक रोमावली-सोभा, ग्रीव मोतिनि हार।
मनहुँ गंगा-बीच जमुना, चली मिलि त्रय धार।
बाहु दंड बिसाल तट दोउ, अंग-चन्दन रैनु।
तीर-तरु वनमाल की छवि, व्रज-जुवति सुख-दैनु।
चिबुक पर अधरनि, दसन-दुति बिंब बीजु लजाइ।
नासिका सुक, नैन खंजन, कहत कवि सरमाइ।
स्रवन कुंडल कोटि-रबि-छवि, भृकुटि काम-कोदंड।
सूर प्रभु है नीप के तर, सीस धरे सिखंड।। १२२ ।।

राग गौरी

उपमा हरि-तनु देखि लजानी।
कोउ जल मैं, कोउ बननि रहीं दुरि, कोउ कोउ गगन समानी।
मुख निरखत ससि गयौ अंबर कौ, तड़ित दसन-छवि हेरि।
मीन कमल, कर, चरन, नयन डर जल मैं कियौ बसेरि।
भुजा देखि अहिराज लजाने, बिबरनि पेठे धाइ।
कटि निरखत केहरि डर मान्यौ, बन-बन रहे दुराइ।
गारी देहिं कविनि के बरनत, श्री-अँग पटतर देत।
सूरदास हमकौ सरमावत, नाउँ हमारौ लेत ।।१२३।।

राग धनाश्री

द्वै लोचन तुम्हरैं द्वै मेरैं।
तुम प्रति अंग बिलोकन कीन्हौ, मैं भई मगन एक अंग हेरैं।

---

(१) करधनी।

अपनौ-अपनौ भाग्य सखी री, तुम तनमय मैं कहूँ न नेरैं।
जो बुनियै सोई पुनि लुनियै, और नहीं त्रिभुवन-भटभेरैं।
स्याम-रूप अवगाह-सिंधु तैं, पार होत चढ़ि डोंगनि केरैं।
सूरदास तैसै ये लोचन, कृपा-जहाज विना क्यौ पेरैं ।।१२४।।

राग गूजरी

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंचन-मीन-मृगज-चपलाई, नहिं पटतर[1] इक सैन।
राजिव-दल इंदीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै विकसित, ये विकसित दिनराति।
अरुन, स्वेत, सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाइ।
मनु सरसुत, गंगा, जमुना मिलि, आस्रम कीन्हौ आइ।
अवलोकनि जलधार तेज अति, तहाँ न मन ठहराइ।
सूर स्याम-लोचन-अपार-छवि, उपमा सुनि सरमाइ ।।१२५।।

राग सोरठ

नैखि सखी मोहन मन चोरत।
नैन-कटाच्छ-विलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि विवि मोरत।
चंदन-खौरि ललाट स्याम कें, निरखत अति सुखदाई।
मनौ एक सँग गंग, जमुन नभ, तिरछी धार वहाई।
मलयज भाल भ्रकुटि-रेखा की, कवि उपमा इक पाई।
मानहुँ अर्द्धचंद्र-तट अहिनी, सुधा चुरावन आई।
भ्रकुटि चारु निरखि व्रज-सुन्दरि, यह मन करति विचार।
सूरदास-प्रभु सोभा-सागर, कोउ न पावत पार ।।१२६।।

---

(1) समानता।

राग सूही बिलावल

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे है बनमाली।
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यौ दामिनि बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुबास।
कीधौ तरुन तमाल चढ़ि, जुग फल बिंब सुपाके।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके।
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ।
मनौ नीलमनि-पुट मुकुता गन, बंदन भरि बगराइ।
किधौ बज्र-कन, लाल नगनि खँचि, तापर विद्रुम पाँति।
किधौ सुभग बंधूक-कुसुम-तर, झलकत जल-कन-काँति।
किधौ अरुन अंबुज बिच बैठी, सुन्दरताई जाइ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ।।१२७।।

राग धनाश्री

ता दिन तैं हरि दृष्टि परे री।
ता दिन तै मेरे इन नैननि, दुख सुख सब बिसरे री।
मोहन अंग गुपाल लाल के, प्रेम-पियूष[1] भरे री।
बसे उहाँ मुसुकानि-बाँह लै, रचि रुचि-भवन करे री।
पठवति हौ मन तिनहिं मनावन निसिदिन रहत अरे री।
ज्यौ ज्यौ जतन करति उलटावति त्यौ त्यौ हठत खरे री।
पचिहारी समुझाइ ऊँच-निच पुनि-पुनि पाइ परे री।
सो सुख सूर कहाँ लौं बरनौ इक टक तैं न टरे री।।१२८।।

---

(१) अमृत।

राग गौरी

मन मेरौ हरि साथ गयौ री।
द्वारे आइ स्याम घन सजनी, हँसि मोतन तिहिं संग लयौ री।
ऐसें मिल्यौ जाइ मोकौ तजि, मानौ उनही पोषि जयौ री।
सेवा चूक परी जो मोतैं, मन उनकौ धौ कहा कियौ री।
मोकौं देखि रिसात कहत यह, तेरैं जिय कछु गर्व भयौ री।
सूर स्याम-छबि-अंग लुभान्यौ, मन-बच-क्रम मोहिं छाँड़ि दयौ री।
॥१२६॥

राग गूजरी

स्याम करत हैं मन की चोरी।
कैसें मिलत आनि पहिलें ही, कहि-कहि बतियाँ भोरी।
लोक-लाज की कानि गँवाई, फिर गुड़ी[1] बस डोरी।
ऐसे ढंग स्याम अब सीख्यौ, चोर भयौ चित कौ री।
माखन की चोरी सहि लीन्ही, बात रही वह थोरी।
सूर स्याम भयौ निडर तबहिं तैं, गौरस लेत अँजोरी॥१३०॥

राग मलार

भीजत कुञ्जनि में दोउ आवत।
ज्यौं-ज्यौं बूँद परतिं चूनरि पर, त्यौं-त्यौं हरि उर लावत।
तैसै मोर कोकिला बोलत, पवन बीजु घन धावत।
लै मुरली कर मंद घोर सुर, राग मलार बजावत।
अधिक झकोर जबै मेघनि की, द्रुम तिरछनि बिरमावत।
वै हँसि ओट करत पीतांबर, ये चूनरी उढ़ावत।

---

(१) पतंग।

भीजे राग रागिनी दौऊ, भींजे जल छबि पावत ।
सूरदास प्रभु रीझि परस्पर, प्रीति अधिक उपजावत ॥१३१॥

राग जैतश्री

कबहुँ स्याम जमुना तट जात ।
कबहूँ कदम चढ़त मग देखत, राधा बिनु अतिही अकुलात ।
कबहुँ जात बन कुंज-धाम कौ, देखि रहत नहिं कछू सुहात ।
तब आवत वृषभानु-पुरी कौ, अनुराग भरे नँद-तात ।
प्यारी हृदय प्रगटही जानति, तब वह मनही माँझ सिहात ।
सूरदास नागरि के उर मैं, निवसे नागर स्यामल गात ॥१३२॥

राग बिहागरौ

महा बिरह-बन माँझ परी ।
चकित भई ज्यौ चित्र पूतरी, हरि-मारग बिसरी ।
सँग बटपार-गर्ब[1] जब देख्यौ, साथी छोड़ि पराने ।
स्याम-सहर-अँग-अंग माधुरी, तहँ वै जाइ लुकाने ।
यह बन माँझ अकेली व्याकुल, संपति गर्ब छँड़ायौ ।
सूर स्याम-सुधि टरत न उर तैं, यह मनु जीव बचायौ ॥१३३॥

राग सारंग

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल[2] पर गज[3] बर क्रीड़त, तापर सिंह[4] करत अनुराग ।
हरि[5] पर सरबर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग ।
रुचिर कपोत[6] बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत-फल लाग ।

---

(१) लुटेरा (२) चरण (३) जंघारा (४) कमल (५) गर्दन (६) नाक ।

फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक[1], पिक, मृग-मद काग।
खंजन[2], धनुष[3], चंद्रमा[4] ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर[5] नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताकौ करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधा-रस, मानौ अधरनि के बड़ भाग ॥१३४॥

राग जैतश्री

नैना हाथ न मेरैं आली।
इत ह्वै गए ठगौरी लावत, सुन्दर कमल-नैन वनमाली।
वे पाछें ये आगें धाए, मैं बरजति बरजति पचिहारी।
मेरैं तन वै फेरि न चितए, आतुरता वह कहौं कहा री।
जैसे वरत भवन तजि भजियै, तैसेहिं गए फेरि नहीं हेरी।
सूर स्याम-रस रसे रसीले, पय पानी को करै निबेरी ॥१३५॥

राग धनाश्री

मेरे नैन कुरंग भए।
जोवन-बन तैं निकसि चले ये, मुरली-नाद रए।
रूप ब्याध, कुंडल-दुति ज्वाला, किंकिनि घंटा-घोष।
ब्याकुल ह्वै एकहि टक देखत, गुरुजन तजि संतोष।
भौह कमान नैन सर साधनि, मारनि चितवनि-चारि।
ठौर रहे नहिं टरत सूर वै, मंद हँसनि सिर डारि ॥१३६॥

राग गौरी

नैना है री ये वटमारी।
कपटि-नेह करि-करि इन हमसौ, गुरुजन तैं करी न्यारी
स्याम-दरस-लाड़ू कर दीन्हौ, प्रेम ठगौरी लाइ।
मुख परसाइ हँसनि-माधुरता, डोलत संग लगाइ।

---

(१) आंख (२) भौंह (३) मस्तक (४) चोरी (५) चोटी।

मन इनसौं मिलि भेद बतायौ, विरह-फाँस गर डारी।
कुल-लज्जा-संपदा हमारी, लूटि लई इन सारी।
मह-बिपिन मैं परी कराहति, नेह-जीव नहिं जात।
सूरदास गुन सुमिरि-सुमिरि वै, अंतरगत पछितात ।।१३७।।

राग मलार

नैना नैननि माँझ समाने।
ठारे टरत न इक पल मधुकर, ज्यौं रस मैं अरुझाने।
मन गति पंगु भई सुधि बिसरी, प्रेम-पराग लुभाने।
मिले परस्पर खंजन मानौ, झगरत निरखि लजाने।
मन वच क्रम पल-ओट न भावत, छिनु छिनु जुग परमाने।
सूर स्याम के बस्य भए ये, जिहिं बीतै सौ जानै ।।१३८।।

राग विहागरौ

लोचन लालच तै न टरे।
हरि-सारँग सौ सारँग गीधे, दधि-सुत-काज जरे।
ज्यौ मधुकर बस परे केतकी[1], नहिं ह्वाँ तै निकरे।
ज्यौ लोभी लोभहिं नहिं छाँड़त, ये अति उमँग-भरे।
सनमुख रहत, सहत दुख दारुन, मृग ज्यौ नही डरे।
वह धोखैं, यह जानत है सब, हित चित सदा करे।
ज्यौ पतंग फिरि परत प्रेम-बस, जीवत मुरछि मरे।
जैसैं मीन अहार-लोभ तै, लीलत परै गरे।
ऐसेंहि ये लुब्धे हरि-छबि पर, जीवत रहत भिरे।
सूर सुभट ज्यौ रन नहिं छाँड़त, जब लौं धरनि गिरे।
।।१३९।।

(१) केवड़ा।

राग नट

नैन भए बोहित[1] के काग।
उड़ि-उड़ि जात पार नहिं पावत, फिरि आवत तिहिं लाग।
ऐसी दसा भई री इनकी, अब लागे पछितान।
मो बरजत-बरजत उठि धाए, नहिं पायौ अनुमान।
वह समुद्र ये ओछे बासन, धरैं कहाँ सुख-रासि।
सुनहु सूर ये चतुर कहावत, वह छबि महा प्रकासि॥१४०॥

राग बिलावल

नैननि सौ झगरौ करिहौं री।
कहा भयौ जौ स्याम-संग है, बाँह पकरि सन्मुख लरिहौ री।
जन्महिं तें प्रतिपालि बड़े किये, दिन-दिन कौ लेखौ करिहौ री।
रूप-लूट कीन्ही तुम काहै, अपने बाँटे कौ धरिहौ री।
एक माधु-पितु भवन एक रहे, मैं कहै उनकौ डरियौ री।
सूर अंस जो नही देहिगे, उनकै रँग मैंहूँ ढरिहौ री॥१४१॥

राग कल्यान

अति रस-लंपट नैन भए।
चाख्यौ रूप-सुधा-रस हसि कौ, लुब्धे उतहिं गए।
ज्यौ बिट-नारि भवन नहिं भावत, औरहिं पुरुष रई।
आवति कबहुँ होति अति व्याकुल, जैसै गवन नई।
फिरि उतही कौ धावति, जैसे छुटत धनुष तैं तीर।
चुभे जाइ हरि-रूप-रोम मैं, सुन्दर स्याम सरीर।
ऐसै रहत उतहिं कौ आतुर, मोसौ रहत उदास।
सूर स्याम के मन बच क्रम भए, रीझे रूप प्रकास॥१४२॥

---

(१) जहाज।

राग मलार

यह ऋतु रूसिवे की नाही।
बरषत मेघ[1] मेदिनी[2] कै हित, प्रीतम हरषि मिलाही!
जेती वेलि ग्रीष्म ऋतु डाहीं, ते तरवर लपटाहीं।
जे जल विनु सरिता से पूरन, मिलन समुद्रहिं जाहीं।
जोवन धन है दिवस चारि कौ, ज्यौ वदरी की छाही।
मैं दंपति-रस-रीति कही है, समुझि चतुर मन माही।
यह चित धरि री सखी राधिका, दै दूती कौ वाहीं।
सूरदास उठि चली री प्यारी, मेरैं सँग पिय पाहीं।।१४३।।

राग सारंग

देखियित कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौ, भई विरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तै गिरति धरनि धँसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पंकजु काजल सारी।
भौर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।।१४४।।

राग सारंग

मधुवन तुम क्यौ रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
मोहन वेनु वजावत तुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे।

---

(१) वादल (२) धरती।

वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु बिरह दवानल, नख सिख लौ न जरे।।१४५।।

राग मलार

सखी इन नैननि तें घन हारे।
विनही रितु बरषत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सवन करि बसे वचन-खग, दुख पावस के मारे।
दुरि दुरि बूँदि परत कंचुकि पर, मिलि अंजन सौ कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिवि मूरति धरि न्यारे।
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे।।१४६।।

राग मलार

निसि दिन बरषत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तें स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि वासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच वहत पनारे।
आँसू-सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे।
सूरदास-प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहै बिसारे।।१४७।।

राग मलार

हमकौं सपनेहू मैं सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनंदन, ता दिन तें यह पोच।
मनु गुपाल आए मेरैं गृह, हँसि करि भुजा गही।
कहा कहौं बैरिन भइ निद्रा, निमिष न और रही।

ज्यौ चकई प्रतिबिंब देखि कै, आनंदै पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर बिधाता, चपल कियौ जल आनि।
॥१४८॥

राग सोरठ

पिय बिनु नागिनि कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु विकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरैं खात।
॥१४९॥

राग सारंग

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सौ, आपे प्रान दह्यौ।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौ, संपुट माँझ गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जु नाद सौ, सन्मुख बान सह्यौ।
हम जो प्रीति करी माधव सौं, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ।
॥ १५० ॥

राग मलार

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
अपने तौ पठवत नहिं मोहन, हमरे फिरि न फिरे।
जिते पथिक पठए मधुबन कौ, बहुरि न सोध करे।
कै वै स्याम सिखाइ प्रमोधे, कै कहुँ बीच्छ मरे।
कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दव लागि जरे।
सेवक सूर लिखन कौ आँधौ, पलक कपाट अरे॥१५१॥

राग मलार

वरु ए बदरौ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनंदन, गरजि गगन घन छाए।
कहियत है सुर-लोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तैं धाए।
द्रुम किए हरित,हरषि बेली मिली, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड नीड तृन सँचि सँचि, पंछिनहूँ मन भाए।
समुझति नही चूक सखि अपनी, बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास-प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुबन बसि बिसराए।
॥१५२॥

राग मारू

किते दिन हरि दरसन विनु बीते।
एक न फुरत स्याम सुन्दर बिनु, बिरह सबै सुख जीते।
मदन गुपाल वैठि कंचन रथ, चितै किए तम रीते।
सुफलक सुत लै गए दगा दै, प्रानिनिहूँ तें प्रीते।
कहि धौ घोष कबहिं आवहिंगे, हरि बलभद्र सहीते।
सूरदास-प्रभु बहुरि कृपा करि, मिलहु सुदामा मीते।
॥ १५३ ॥

राग धनाश्री

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपँग-सुत मोहिं न बिसरत, व्रज-बासी सुखदाई।
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं, इहाँ नही मन लागत।
गोपी ग्वाल गाइ वन चारन, अति दुख पायौ त्यागत।
कहँ माखन-रोटी, कहँ जसुमति, जेंवहु कहि-कहि प्रेम।
सूर श्याम के वचन हँसत सुनि, थापत अपनौ नेम ॥ १५४ ॥

राग विलावल

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ ।
हम आवैंगे दोऊ भैया, मैया जनि अकुलाय ।
याकौ विलग वहुत हम मान्यौ, जो कहि पठ्यौ धाइ ।
वह गुन हमकौं कहा विसरिहै, वड़े किए पय प्याइ ।
अरु जव मिल्यौ नन्द वावा सौ, तव कहियौ समझाइ ।
तौ लौ दुखी होन नहिं पावैं, धौरी धूमरि गाइ ।
जद्यपि इहाँ अनेक भाँति सुख, तदपि रह्यौ नहिं जाइ ।
सूरदास देखौं व्रजवासिनि, तवहीं हियौ सिराइ ।। १५५ ।।

राग सारंग

कह्यौ कान्ह सुनि जसुदा मैया ।
आवहिंगे दिन चार पाँच मैं, हम हलधर दोउ भैया ।
मुरली वेत विपान हमारौ, कहूँ अवेर सवेरौ ।
मति लै जाइ चुराइ राधिका, कछुक खिलौना मेरौ ।
जा दिन तैं हम तुमसौ विछुरे, काहु न कह्यौ कन्हैया ।
प्रात न कियौ कलेऊ कवहूँ, साँझ न पय पियौ वैया ।
कहा कहौं कछु कहत न आवै, जननी जो दुख पायौ ।
अव हमसौ वसुदेव देवकी, कहत आपनौ जायौ ।
कहिए कहा नन्द वावा सौ, वहुत निठुर मन कीन्हौ ।
सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी, वहुरि न सोधौ लीन्हौ ।
।। १५६ ।।

राग धनाश्री

सुनौ गोपी हरि कौ संदेस ।
करि समाधि अन्तर-गति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेस ।

वै अविगत अविनासी पूरन, सब-घट रहे समाइ।
तत्व ज्ञान विनु मुक्ति नहीं है, बेद पुराननि गाइ।
सगुन रूप तजि तिरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ।
वह उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलैं ब्रह्म तब आइ।
दुसह सन्देस सुनत माधौ कौ, गोपी जब बिलखानी।
सूर विरह की कौन चलावै, बूड़ति मनु विनु पानी ॥१५७॥

राग मलार

मधुकर हमहौ क्यौ समुझावत।
बारंबार ज्ञान गीता कौ, अवलनि आगै गावत।
नँद-नन्द विनु कपट कथा कत, कहि कहि रुचि उपजावत।
एक चन्दन जो अंग छुधा-रत कहि कैसै सचु पावत।
देखि विचारि तुहीं जिय अपने नागर है जु कहावत।
सब सुमननि फिरि-फिरि जु निरसकरि, काहै कमल बँधावत।
चरन कमल, कर नयन बृदन छबि, वहै कमल मन भावत।
सूरदास मन अति अनुरागी, कहि कैसें सुख पावत ॥ १५८ ॥

राग मलार

रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कौन काज या निरगुन सौं, चिर जीवहु कान्ह हमारे।
लोटत पीत पराग कीच मैं, नीच न अंग सम्हारे।
बारंवार सरक मदिरा की, अपरस रटत उघारे।
तुम जानति हौ वैसी ग्वारिनि, जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सवहिनि विरमावत, जेते आवत कारे।
सुन्दर वदन कमल-दल लोचन, जसुमति नन्द-दुलारे।
तन-मन सूर अरति रहीं स्यामहिं, कापै लेहिं उधारे ॥१५९॥

राग मलार

मधुकर काके मीत भए।
त्यागे फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भुरै लए।
छिनु के बिछुरे कमल गति मानी, केतिक कत बिधए।
छाँड़ि जु देह नेह नहिं जान्यौ, लै गुन प्रगट नए।
नूतन कदँब, तमाल, बकुल, वट, परसत जनम गए।
भुज भरि नलिनि उड़त उदास होइ गत स्वारथ समए।
भटकत फिरत पात द्रुम वेलिनि, कुसुमा रमए।
सूर विमुख पद-अंबुज छाँड़े, विपयनि विवर छुए।
॥ १६० ॥

राग नट

ऊधौ वेगि मधुवन जाहु।
जोग लेहु सँभारि अपनौ, वेचियै जहँ लाहु।
हम विरहिनी नारि, हरि विनु कौन कर निवाहु।
तहीं दीजै मूल पूरै, नफा तुम कछु खाहु।
जो नहीं ब्रज मैं विकानौ, नगर नारि विसाहु।
सूर वै सव सुनत लैहैं, जिय कहा पछिताहु॥ १६१॥

राग सारंग

विलग जनि मानौ हमरी वात।
डरपति वचन कठोर कहत अलि, मति विनु पति उठि जात।
जो कोउ कहै जरै कछु अपनै, फिरि पाछैं पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधौ, कृष्न नाम लै खात।
मन जु तिहारौ हरि चरननि तर, अचल रहत दिन प्रात।
सूर स्याम तैं जोग अधिक है, कत कहि आवै वात॥ १६२॥

राग देवगंधार

ऊधौ हरि गुन हम चकडोर ।
गुन सौ ज्यौ भावै त्यौ फेरौ, यहै बात कौ ओर ।
पैड़-पैड़ चालयै तौ चलियै, ऊबट रपटै पाइँ ।
चकडोरी की रीति यहै फिरि, गुन हीं सौ लपटाइ ।
सूर सहज गुन ग्रंथि हमारैं, दई स्याम उर माहिं ।
हरि के हाथ परै तौ छूटै, और जतन कछु नाहिं ।।१६३ ।।

राग धनाश्री

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी ।
कैसे रहति रूप-रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखीं ।
अवधि गनत, इकटक मग जोवत, तब इतनौ नहिं भूखी ।
अब यह जोग सँदेसौ सुनि-सुनि, अति अकुलानी दूखीं ।
बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखीं ।
सूर सु कत हठि नाव चलावत, ये सरिता हैं सूखीं ।१६४ ।

राग धनाश्री

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी ।
देख्यौ चाहति कमलनैन कौ, निसि-दिन रहति उदासी ।
आए ऊधौ फिरि गए आँगन, डारि गए गर फाँसी ।
केसरि तिलक मोतिनि की माला, वृन्दावन के बासी ।
काहू के मन की कोउ जानत, लोगनि के मन हाँसी ।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं, करवट लैहौ कासी ।।१६५ ।।

राग मलार

उपमा नैन न एक रही ।
कवि जन कहत-कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही ।

कहि चकोर बिधु-मुख विनु जीवत, भ्रमर नही उड़ि जात।
हरि-मुख कमल कोप बिछुरे तै, ठाले कत ठहरात।
ऊधौ वधिक व्याध ह्वै आए, मृग सम क्यौ न पलात।
भागि जाहि बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात।
खंजन मन-रंजन न होहिं ये, कबहुँ न अकुलात।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात।
प्रेम न होइ कौन विधि कहियै, झूठै ही तन आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि कबहुँ न छाँड़त।
॥१६६॥

राग मलार

सखी री मथुरा मैं द्वै हंस।
वे अक्रूर और ये ऊधौ, जानत नीके गंस।
ये दोउ नीर गँभीर पैरिया, इनहि बधायौ कंस।
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बंस।
अब इन कृपा करी ब्रज आए, जानि आपनौ अंस।
सूर सु ज्ञान सुनावत अबलनि, सुनत होत मति-भ्रंस।
॥१६७॥

राग नट

आए जोग सिखावन पाँडे।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े।
हमारे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखैते राँड़े।
कहौ मधुप कैसै समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े।
कहु षट्पद कैसै खैयतु है, हाथिनि कैं सँग गाँडे।
काकी भूख गई बयारि भषि, बिना दूध घृत माँड़े।

काहे कौं झाला लै मिलवत, कौन चोर, तुम डाँड़े।
सूरदास तीनौ नहिं उपजत, धनिया, धान, कुम्हाँडे।
॥१६८॥

राग केदारौ

ऊधौ तुम अपनौ जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागति, कत बेकाज ररौ।
जाइ करौ उपचार आपनौ, हम जु कहति है जी की।
कछु वै कहत कछुक कहि आवत, धुनि दिखियत नहिं नीकी।
साधु होइ तिहिं उत्तर दीजै, तुमसौ मानी हारि।
यह जिय जानि नंद-नंदन तुम, इहाँ पठाए टारि।
मथुरा गहौ वेगि इन पाइनि, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सु वैद बेगि टोहौ किन, भए मरन के जोग ॥१६९॥

राग सोरठ

ऊधौ तुम ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछै यह सिद्धि आपनी, जोग कथा बिस्तारौ।
जा कारन तुम पठए माधौ, सो सोचौ जिय माही।
केतिक वीच बिरह परमारथ, जानत हौ किधौ नाही।
तुम परवीन चतुर कहियत हौं, संतत निकट रहत हौ।
जल बूड़त अवलंब फेन कौ, फिरि-फिरि कहा कहत हौ।
वह मुसकान मनोहर चितवनि, कैसैं उर तें टारौ।
जोग जुक्ति अरु मुक्ति परम निधि, वा मुरली पर वारौ।

जिहिं उर कमल-नयन जु बसत है, तिहिं निरगुन क्यौं आवै।
सूरदास सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरौ भावै ॥१७०॥

राग कान्हरौ

निरगुन कौन देस कौ बासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौह दै, बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी ?
कैसे बरन, भेष है कैसी, किहिं रस मैं अभिलाषी ?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे करैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, सूर सबै मति नासी ॥१७१॥

राग नट

ऊधौ तुम ब्रज मैं पैठ करी।
लै आए हौ नफा जानि कै, सबै बस्तु अकरी।
हम अहीर माखन मथि बेचैं, सगुन टेक पकरी।
यह निर्गुन निरमोल गाठरी, अब किन करत घरी।
यह ब्यौपार उहाँ जु समातौ, हुती बड़ी नगरी।
सूरदास गाहक नहिं कोऊ, देखियत गरे परी ॥१७२॥

राग धनाश्री

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
मूरी के पातन के बदले, को मुक्ताहल दैहै।
यह ब्यौपार तुम्हारौ ऊधौ, ऐसैं ही धर्‌यौ रैहै।
जिन पै तैं लै आए ऊधौ, तिनहिं के पेट समैहै।

दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै।
गुन करि मोही सूर सावरे, को निरगुन निरबैहै ॥१७३॥

राग सारंग

ऊधौ मन न भए दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस।
इंद्री सिथिल भई केसब बिनु, ज्यौ देही बिनु सीस।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्याम सुन्दर के, सफल जोग के ईस।
सूर हमारैं नन्दनँदन बिनु, और नही जगदीस ॥१७४॥

राग केदारौ

मन में रह्य नाहिं न ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे, आनियै उर और।
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत राति।
हृदय तै वह मदन मूरित, छिन न इत उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधौ, लोग लोभ दिखाइ।
कह करौ मन प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समाइ।
स्याम गात सरोज आनन, ललित मृदु मुख हास।
सूर इनके दरस कारन, मरत लोचन प्यास ॥१७५॥

राग सारङ्ग

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियौ तनक चितवन मैं, चपल नैन की कोर।
पकरे हुते हृदय उर अन्तर, प्रेम प्रीति कै जोर।
गए छँड़ाइ तोरि सब बंधन, दै गए हँसनि अँकोर।

चौंकि परी जागत निसि बीती, दूत मिल्यौ इक भोर।
सूरदास-प्रभु सरवस लूट्यौ, नागर नवल-किसोर॥१७६॥

राग मलार

बिलग जनि मानो ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओवरी, जे आवै ते कारे।
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे कुटिल मँवारे।
कमलनैन को कौन चलावै, सबहिनि मैं मनियारे।
मानौ नील माट तैं काढ़े, जमुना आइ पखारे।
तातैं स्याम भई कालिंदी, सूर स्याम गुन न्यारे॥१७७॥

राग धनाश्री

ऊधौ भलौ भई ब्रज आए।
बिधि कुलाल कीन्हे काँचे घट ते तुम आनि पकाए।
रँग दीन्हौ हो कान्ह साँवरैं, अँग-अँग चित्र बनाए।
पातै गरे न नैन नेह तै, अवधि अटा पर छाए।
ब्रज करि अँवा जोंग ईंधन करि, सुरति आनि सुलगाए।
फूँक उसास बिरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए।
भरे सँपूरन सकल प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए।
राज काज तैं गए सूर-प्रभु, नंद-नँदन कर लाए॥१७८॥

राग आसावरी

ऊधौ जोग जोग हम नाही।
अबला सार-ज्ञान कह जानै, कैसे ध्यान धराही।
तेई मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माही।
ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमतै सुनी न जाही।

स्रवन चीरि सिर जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अँग भस्म बतावत, विरह-अनल अति दाहीं।
जोगी भ्रमत जाहि लगि भूले, सो तौ है अप माही।
सूर स्याम तै न्यारी न पल-छिन ज्यौ घट तै परछाही।
॥१७९॥

राग सारङ्ग

यह गोकुल गोपाल-उपासी।
जे गाहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईस-पुर कासी।
जद्यपि हरि हम तजी अनाथकरि, तदपि रहति चरननि रस-रासा।
अपनी सीतलता नहिं छाँड़त, जद्यपि बिधु भयौ राहु-गरासी।
किहि अपराध जोग लिखि पठवत, प्रेम-भगति मैं करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिनि, माँगि मुक्ति छाँड़े गुन-रासी ॥१८०॥

राग काफी

आयौ घोष वड़ौ व्यौपारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की, ब्रज में आनि उतारी।
फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी।
धुरही तै खोटौ खायौ है, लिये फिरत सिर भारी।
इनकै कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खारे कूप कौ वारी।
ऊधौ जाहु सवारैं ह्याँ ते, बेगि गहरु जनि लावहु।
मुख मागौ पैहौ सूरज-प्रभु, साहूँहि आनि दिखलाहु ॥१८१॥

राग सारङ्ग

विनु गुपाल वैरिनि भईं कुंजे।
तव वै लता लगति तन सीतल, अव भईं विपम ज्वाला की पुंजे।

बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल-फूलनि अलि-गुंजैं ।
पवन,पान,घनसार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भईं भुंजैं ।
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौ, मदन मारि कीन्ही हम लुंजैं ।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौ, मग-जोवत अँखियाँ भईं छुंजैं ।
॥१८२॥

राग जैतश्री

अति मलीन वृषभानु-कुमारी ।
हरि स्रम-जल भीज्यौ उर-अंचल,तिहिं लालच न धुवावति सारी ।
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौ गथ हारे थकति जुवारी ।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौ नलिनी हिमकर की मारी ।
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक विरहिनि, दूजे अलि जारी ।
सूरदास कैसे करि जीवें, ब्रज-वनिता बिन स्याम दुखारी ॥१८३॥

राग गौरी

ब्रज तै द्वै रितु पै न गई ।
ग्रीपम अरु पावस प्रवीन हरि, तुम बिनु अधिक भई ।
ऊर्ध इसास समीर नैन घन, सब जल जोग जुरै ।
बरपि प्रगट कीन्हे दुख दादुर, हुते जो दूरि दुरै ।
विषम बियोग जु वृप दिनकर सम, हिय अति उदौ करै ।
हरि-पद-विमुख भए सुनि सूरज, को तन ताप हरै ॥१८४॥

राग सारङ्ग

ऊधौ मोहिं ब्रज विसरत नाहीं ।
हंस-सुता की सुन्दर कगरी, अरु कुञ्जनि की छाँहीं ।
वै सुरभी वै बच्छ दोहिनी, खरिक दुहावन जाहीं ।
ग्वाल-वाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि-गहि बाहीं ।

यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाही।
अनगन भाँति करी वहु लीला, जसुदा नंद निबाही।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताही ॥१८५॥

राग सारङ्ग

अविगत गति जानी न परै।
राई तै परवत करि डारै, राई मेरु करै।
नृग राजा नित गऊ सहस दै, करत हुती जल पान।
तनक चूक तै गिरगिट कीन्ही, को करि सकै बखान।
कूप माहँ तिहिं देखि बालकनि, हरि सौ कह्यौ सुनाइ।
कृपानिधान जानि अपनौ जन, आए तहँ जदुराइ।
अंधकूप तै काढ़ि वहुरि तेहिं, दरसन दै निस्तारा।
सूरदास सव तजि हरि भजियै, जव तव करै उधारा ॥१८६॥

राग मारू

अलि तुम जाहु फिरि उहिं देस।
चीर हम करिहैं भगौहैं, सीख सिखि लवलेस।
भाल लोचन चंद चमकनि, कठिन कंठहि सेष।
नाद, मुद्रा, भूति भारी, करैं राउर भेष।
उहाँ जाइ सँदेस कहियौ, जटा धारे केस।
कौन कारन नाथ छाँड़ी, सूर इहै अँदेस ॥१८७॥

राग मलार

व्रज की कहि न परति है वातें।
गिरि-तनया-पति भूषन जैसैं, विरह जरी दिन रातैं।

मलिन बसन हरि हित अंतरगति, तन पीरौ जनु पातैं।
गदगद बचन नैन-जल-पूरित, बिलख बदन कृस गातैं।
मुक्ता-तात भवन तैं बिछुरैं मीन मकर बिललातैं।
सारँग-रिपु-सुत सुहृद पति बिना, दुख पावत बहु भाँतैं।
हरि सुर भषन बिना बिरहाने, छीन भई तन तातैं।
सूरदास गोपिनि परतिज्ञा, मिलहु पहिलै के नातैं ॥१८८॥

राग सारङ्ग

ब्रज सुधि नैकुहूँ नहिं जाइ।
जदपि मथुरापुरी मनोहर, बिरद जादौराइ।
जौ कोऊ कहि कान्ह टेरत, चौंकि चितवत धाइ।
ग्वालिनी अवलोकि पाछै, रहत सीस नवाइ।
देखि सुरभी वच्छ हित जल, रहत लोचन छाइ।
सृङ्ग बेनु विषान सुनि कै, उठत हेरी गाइ।
देखि पत्र पलास के अलि, रहत उर लपटाइ।
आनि छबि पै पान कै प्रभु, पिवत जल मुसुकाइ।
मोर के चँदवा धरनि तैं, स्याम लेत उठाइ।
छाक छबि कै कोस भोजन, हँसत दधि परसाइ।
कुञ्ज-केलि समान नाहीं, सुरपुरी सुखदाइ।
बीसर्यौ नहि सूर कबहूँ, नंद जसुदा माइ ॥१८९॥